॥ श्रीहरिः ॥

334

व्यवहार और परमार्थ

हनुमानप्रसाद पोद्दार

334

॥ श्रीहरिः ॥

व्यवहार और परमार्थ

[लोक-व्यवहार एवं पारमार्थिक साधनाके सम्बन्धमें जिज्ञासुओंको लिखे गये पत्रोंका संग्रह]

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

'व्यवहार और परमार्थ' नामकी पुस्तक हमारे परम श्रद्धेय नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कुछ व्यक्तिगत पत्रोंका संग्रह है। ये पत्र 'कामके पत्र' शीर्षकसे समय-समयपर 'कल्याण'में प्रकाशित हुए हैं।

'कल्याण'के साथ ही श्रीभाईजीकी प्रतिष्ठा एक सच्चे पथ-प्रदर्शकके रूपमें हो गयी। धीरे-धीरे जिज्ञासुओं, साधकों, भक्तों आदिके पत्र उनके पास प्रतिदिन आने लगे, जिनमें कोई अध्यात्म-साधनाका रहस्य जानना चाहता, कोई कर्मकाण्डके किसी अङ्गविशेषसे सम्बन्धित जानकारी प्राप्त करनेकी इच्छा प्रकट करता, कोई अपने दैनिक व्यवसायसे सम्बन्धित किसी समस्याके विषयमें मार्ग-दर्शन माँगता। श्रीभाईजी उन पत्रोंको धीरजके साथ पढ़ते और सबका समाधान अधिकतर व्यक्तिगत पत्रोत्तरके रूपमें करते तथा कभी-कभी पत्र-लेखक महोदयके नाम-पता न लिखनेपर किंतु विषयकी आवश्यकताका अनुभव कर उसका उत्तर 'कल्याण'में प्रकाशित कर देते, जिससे पत्र-लेखक महानुभाव तो लाभान्वित होते ही, 'कल्याण'के पाठक भी उससे शिक्षा ग्रहण करते। धीरे-धीरे श्रीभाईजीके जीवन, व्यवहार, लेखनी आदिका पाठक-पाठिकाओंके हृदयपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे अत्यन्त वैयक्तिक तथा पारिवारिक समस्याओंको भी पत्रोंके माध्यमसे उनके समक्ष रखकर उपयुक्त मार्गदर्शनकी अपेक्षा करने लगे। श्रीभाईजीपर उनकी इतनी अगाध श्रद्धा और अखण्ड विश्वास हो गया कि वे अपनी अत्यन्त गोपनीय बातें भी उनके समक्ष रखनेमें किसी प्रकारका संकोच-सम्भ्रम अनुभव नहीं करते—ऐसी बातें जिन्हें अन्य किसी भी सांसारिक अथवा आध्यात्मिक सम्बन्धीके सामने

रखना उनके लिये सम्भव नहीं था। ऐसे पत्रोंमें चरित्रविषयक स्खलन, संदेह, गृह-कलह, ज्ञात-अज्ञात रूपमें हुए पापोंकी स्वीकृति, निराशा, असफलता, ग्लानि आदिसे छुटकारा पानेके लिये आत्महत्याकी तैयारीका उल्लेख आदि गम्भीर प्रश्न रहते थे। श्रीभाईजी ऐसे पत्रोंका बड़ी ही गम्भीरता एवं सावधानीसे उत्तर देते थे और उनके पत्रोंका जादूका-सा प्रभाव होता था। श्रीभाईजीके पत्रोंसे हजारों-हजारों व्यक्ति भगवान्‌की ओर आकृष्ट हुए और उन्होंने जीवनके परम लक्ष्य भगवान् या भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्तिके महत्त्वको समझा और इन उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये किस प्रकार सुगमतासे बढ़ा जा सकता है, इसकी शिक्षा ग्रहण की। हजारों-हजारों निराश व्यक्तियोंने आशा, उत्साह स्फूर्ति, नवीन चेतना आदि प्राप्त की और उत्साहहीनता, निराशा, विनाशके गर्तमें गिरकर अपना सर्वस्व नष्ट करनेकी कुचेष्टासे वे विरत हुए। आपसके मनोमालिन्यको धोकर परस्पर प्रेमकी प्रतिष्ठा करनेकी प्रेरणा कितने परिवारोंको, कितने स्वजनोंको, कितने मित्रोंको प्राप्त हुई है—इसका हिसाब लगाना असम्भव है। मानव-स्वभावकी दुर्बलताओंसे घिरे रहकर सन्मार्गसे फिसलते हुए कितने-कितने साधक, गृहस्थ, नवयुवक भगवान्‌की सौहार्दमयी पतितपावनताका परिचय प्राप्तकर पाप-पङ्कसे निकलकर सत्त्वगुणकी ओर अग्रसर हुए और उन्नतिके शिखरपर पहुँचे हैं। जीवनकी ऐसी कौन-सी गुत्थी, समस्या, पहेली, उलझन है, जिसका समाधान जिज्ञासुओंको उनके पत्रोंद्वारा प्राप्त न हुआ हो। इस प्रकार व्यवहार और परमार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले कितने ही प्रमुख प्रश्नोंका समाधान शास्त्र तथा निजी अनुभवके आधारपर बड़ी ही सरल हृदयग्राही भाषामें इन पत्रोंमें हुआ है।

श्रीभाईजीका जीवन वैविध्यपूर्ण था। वे आदर्श पिता थे, आदर्श पति थे, आदर्श पुत्र थे, आदर्श मित्र थे, आदर्श बन्धु थे, आदर्श सेवक थे, आदर्श स्वामी थे, आदर्श आत्मीय थे, आदर्श स्नेही थे, आदर्श सुहृद् थे, आदर्श शिष्य थे, आदर्श गुरु थे, आदर्श लेखक थे, आदर्श सम्पादक थे, आदर्श जननेता थे, व्यवसायी थे, गृहस्थ थे। आदर्श साधक थे, आदर्श सिद्ध थे, आदर्श प्रेमी थे, आदर्श कर्मयोगी थे, आदर्श ज्ञानी थे। इस प्रकार उन्हें लौकिक एवं पारलौकिक सभी विषयोंका सम्यक्‌रूपसे ज्ञान था, अनुभव था और यही

हेतु है कि वे व्यवहार और परमार्थकी जटिल-से-जलि समस्याओंका समाधान बड़े ही सुन्दर और मान्य रूपमें कर पाते थे।

व्यक्तिके जीवनका प्रभाव सर्वोपरि होता है और वह अमोघ होता है। श्रीभाईजी अध्यात्म-साधनाकी उस परमोच्च स्थितिमें पहुँच गये थे, जहाँ पहुँचे हुए व्यक्तिके जीवन, अस्तित्व, उसके श्वास-प्रश्वास, उसके दर्शन, स्पर्श एवं सम्भाषण—यहाँतक कि उसके शरीरसे स्पर्श की हुई वायुसे ही जगत्का, परमार्थके पथपर बढ़ते हुए जिज्ञासुओं एवं साधकोंका मङ्गल होता है। मेरा विश्वास है कि जो व्यक्ति इन पत्रोंको मननपूर्वक पढ़ेंगे, इनमें कही हुई बातोंको अपने जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करेंगे, उनको व्यवहार और परमार्थमें निश्चय ही विशेष सफलता प्राप्त होगी।

विनीत—

गोरखपुर
श्रावण शुक्ल १५, सं० २०३०

चिम्मनलाल गोस्वामी
सम्पादक 'कल्याण'

★

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

॥ श्रीहरिः ॥

व्यवहार और परमार्थ

महान् गुण भक्तिसे ही टिकते हैं

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला। निवेदन यह है कि जब पहले-पहल मनुष्य देश और जातिकी सेवाके लिये तथा दीन-दरिद्र, दुःखपीड़ित प्राणियोंकी सहायताके लिये कुछ काम शुरू करता है, उस समय उसके भाव निस्संदेह बहुत अच्छे होते हैं; वह सचमुच सेवा और सहायता ही करना चाहता है। पर जब क्रमशः उसका नाम फैल जाता है, उसे सम्मान मिलता है और बड़े-बड़े धनी-मानी लोग जब उस दरिद्र नेताको अपना सरदार मानकर उसकी पूजा-प्रतिष्ठा करने लगते हैं, तब उसके अंदर सोयी हुई विषय-वासना जाग उठती है और वह बेचारा उस वासनासे प्रेरित होकर सुविधा पानेसे विषयसेवनके गहरे गर्तमें पड़कर अपनी और देशकी दुर्दशा कर डालता है। आपने जो कुछ लिखा है, उसमें यही बात है। इसीलिये अनुभवी संतोंने कहा है कि दैवी सम्पत्तिके महान् गुण उसीमें ठहरते हैं, जो भगवान्‌के आश्रित होता है। जबतक भगवान्‌की भक्तिसे हृदयमें अकिंचनता—अहंकारशून्यता नहीं आ जाती, तबतक सद्गुण आ नहीं सकते। यदि किसी कारणविशेषसे कुछ आ जाते हैं तो वे स्थिर नहीं रह सकते। श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादजीने कहा है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

(५।१८।१२)

'श्रीभगवान्‌में जिसकी अकिंचना (निष्काम) भक्ति होती है, (जो अपने हृदयमें ऐसा अनुभव करता है कि धन, जन, मान, वैभव तथा मैं और मेरा कुछ भी नहीं है और इस प्रकारके अनुभवके बाद शून्यहृदयकी पूर्णताका अभिलाषी होकर) जो श्रीभगवच्चरणारविन्दकी प्राप्तिके लिये ललचा उठता है, उस पुरुषके हृदयमें समस्त देवता सारे सद्गुणोंको लेकर नित्य विराजित रहते हैं, अर्थात् ऐसे निष्किंचन भक्तका जीवन समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न होकर वस्तुतः बहुत ही ऊँचे स्तरपर उठ जाता है; पर जिसमें भगवान्‌की भक्ति नहीं, उसमें महान् गुण कहाँसे आ सकते हैं। वह तो मनमानी कामनाओंके रथपर सवार होकर निरन्तर बाहरी विषयोंकी ओर ही दौड़ता रहता है।'

सद्गुणोंके निवासके लिये कोई सुदृढ़ आधार चाहिये। वह आधार है भगवान्‌की भक्ति। आजका मनुष्य भगवान्‌को छोड़कर सद्गुणोंका सेवन करना चाहता है, इसीसे वह पद-पदपर वञ्चित होता है और अन्तमें विषय-पङ्कमें फँसकर अपनेको नष्ट कर डालता है। आज देशभरमें यही हो रहा है। पारस्परिक कलह, पदलोलुपता, द्वेष तथा सैकड़ों दलबंदियोंका यही प्रधान कारण है। इस दुर्दशासे हमारा छुटकारा तबतक नहीं हो सकता, जबतक हमारे कार्यकर्ताओंके हृदयमें अकिंचना भक्तिका अङ्कुर नहीं पैदा होता और जबतक वह नियमित-रूपसे श्रवण-कीर्तनादिरूप अमृतजलसे सतत सींचा नहीं जाता।

सेवा करनेवालोंको पहले अपनेमें अकिंचनता पैदा करनी होगी, तभी वे सेवा कर सकेंगे। नहीं तो सेवा करनेके बदले वे सेवा कराने लगेंगे और किसीके न करनेपर उसके शत्रु बनकर उसके और प्रतिक्रियारूपमें अपने भी विनाशसाधनमें लग जायँगे।

आप यदि सचमुच देशकी सेवा करना चाहते हैं और साथ ही दुर्गुणोंसे बचना चाहते हैं तो सबसे पहले अपनेको 'सेवक' बनाइये। प्रत्येक कार्य भगवत्सेवाके लिये करना है और करना है भगवान्‌की दी हुई वस्तुओंसे और उन्हींके दिये हुए मन-बुद्धि तथा शरीरके द्वारा। अपना निजका कुछ भी नहीं है और न किसी वस्तुके बदलेमें कुछ पानेका अधिकार है। उनकी चीज उनके इच्छानुसार उनकी सेवामें समर्पित करनी है। इस सेवामें वे कृपा करके हमें निमित्त बनाते हैं, यही हमारा परम सौभाग्य है। प्रभुसे सदा यही प्रार्थना करनी चाहिये कि कभी मनमें अहंकार पैदा न हो—विषयवासनावश कभी सेवा करानेकी या सेवाका कुछ भी बदला पानेकी जरा भी इच्छा मनमें जाग्रत् न हो। साथ ही भगवान्‌के नाम-गुणोंका श्रवण-कीर्तन भी करते रहना चाहिये। इससे भक्तिका पौधा लहलहाता रहता है और शीघ्र ही बढ़कर प्रेमरूप परम फल देता है। प्रेमकी प्राप्ति होती है, तभी वास्तविक प्रभु-सेवा बन पड़ती है। सेवाकी योग्यता प्रेमसे ही आती है।

★

निन्दनीय कर्मसे डरना चाहिये न कि निन्दासे

महोदय ! आपका कृपापत्र मिला। समाचार जाने। निवेदन यह है कि लोक-निन्दा जैसे एक ओर कर्तव्यपथमें विघ्न है, वैसे ही दूसरी ओर वह जीवन-सुधारका एक सुन्दर साधन भी है। स्तुति सुहावनी होती है और बड़ी मीठी भी लगती है; परंतु वह जीवनको उच्च स्तरपर नहीं ले जाती; मोहजाल फैलाकर उन्नतिके मार्गको रोक देती है। निन्दा बुरी लगती है पर वह निर्दोष बनानेमें बड़ी सहायता करती है। स्तुति करनेवाला बिना ही हुए गुण सुना-सुनाकर मनुष्यके चित्तमें अहंकारका विष उत्पन्न करके उसे जर्जरित कर डालता है; परंतु निन्दक अपनी तेज धारवाली जीभकी छुरीसे उसके एक-एक अङ्गको काट-काटकर उसकी जरा-जरा-सी मवादको निकाल डालनेका सहज प्रयत्न करता है। इसीसे संतोंने निन्दकको निकट रखनेकी सलाह दी है— ***'निन्दक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।'***

आपका यह लिखना सत्य है कि 'निन्दाको सहन करना बड़ा ही कठिन है।' जब थोड़ी-सी भी निन्दा सहन नहीं होती, तब जहाँ निन्दाका स्रोत सीमा तोड़कर बह निकलता है, वहाँ तो वह असह्य हो जाती है, मनुष्यका मन तिलमिला उठता है और वह विवेकशून्य होकर निन्दकका नाश करनेपर उतारू हो जाता है। उसका कर्तव्यज्ञान नष्ट हो जाता है और वह अपनी सारी शक्ति इसीमें लगाकर अपनेको खो बैठता है। पर यह मनुष्यकी कमजोरी है। वीर-धीर मनुष्य तो वह है, जो निन्दा-स्तुतिकी सीमाको लाँघकर अपने कर्तव्य-पथपर अग्रसर होता है,

जो निन्दक और स्तावक—दोनोंको पीछे ढकेलकर वीरताके साथ आगे बढ़ जाता है। बुद्धिमान् वही है, जो अपने लाभ-हानिको सोचकर काम करे, आवेशमें या हठमें आकर कुछ भी कर बैठनेवाला तो पछताता ही है।

अतएव आप निन्दासे मत डरिये और न स्तुतिकी चाह कीजिये तथा न स्तुति सुनकर प्रसन्न होइये। संसारमें किसकी निन्दा नहीं होती ? दोष देखनेवालोंकी आँखें तथा दोष कथन करनेवालोंकी वाणी ईश्वरतकमें दोष देखती और बतलाती है। फिर अपूर्ण मानवकी—जो दोष-गुणसे युक्त है—तो बात ही क्या है ? साधक पुरुषको तो निन्दामें प्रसन्न होना चाहिये। क्योंकि निन्दाका प्रसार होनेसे लोक-सम्मानकी और प्रतिष्ठाकी मीठी बीमारी मिट जाती है और साधक चुपचाप अपनी साधनामें प्रवृत्त रह सकता है। अवश्य ही निन्दनीय कर्म कभी नहीं करना चाहिये, परंतु निन्दा हो तो उसमें अपना परम लाभ ही मानना चाहिये। डर निन्दनीय कार्यसे होना चाहिये, निन्दासे नहीं।

——★——

सती-चमत्कार

प्रिय बहन ! सस्नेह हरिस्मरण। आपका पत्र मिले बहुत दिन हो गये। उत्तर लिखनेमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें। आपके प्रश्नोंका उत्तर संक्षेपमें इस प्रकार है—

(१) प्राचीन कालमें आर्य-नारियाँ सती होती थीं, हँसती-हँसती पतिके शवको गोदमें रखकर अपने शरीरको भस्म कर डालती थीं—इसका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोंमें बहुत मिलता है और यह सर्वथा सत्य जान पड़ता है।

(२) सती-प्रथाबंदीका कानून बना था, उस समय ऐसा कहा जाता है कि समाजकी निन्दाके भयसे स्त्रियाँ महान् मानसिक और शारीरिक कष्ट सहकर बिना मनके जलती थीं। वरं यहाँतक होने लगा था कि स्वार्थवश घरके लोग, जिसका पति मर जाता था, उस स्त्रीको उसकी इच्छाके विरुद्ध—जबरदस्ती पतिकी लाशके साथ बाँधकर जला देते थे। ये दोनों ही बातें न्यूनाधिक अंशमें सत्य हो सकती हैं और यदि ऐसा होता था तो वह निश्चय ही निर्दयता और पापाचरण था तथा दयालु पुरुषोंके प्रयत्नसे उसका बंद होना भी ठीक ही था। इतना होनेपर भी सच्ची सतियोंको पतिका अनुगमन करनेसे कौन रोक सकता है। कानूनकी वहाँतक पहुँच ही नहीं। इस गये-गुजरे जमानेमें भी बीच-बीचमें ऐसी सतियोंकी चमत्कारपूर्ण घटनाएँ देखने-सुननेको मिलती हैं।

(३) आजकल सती होनेकी घटनाओंमें अपने-आप शरीरसे अग्नि प्रकट होने आदि चमत्कारकी जो बातें सुनी-पढ़ी जाती हैं, उनके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता कि वे कहाँतक सत्य हैं। बहुत सम्भव है कि उनमें बहुत-सी बातें बढ़ाकर भी लिखी या कही जाती हों।

(४) हाँ, मेरा ऐसा विश्वास है कि सतीके कंधे या हृदयसे अथवा शरीरके किसी भी अङ्गसे अपने-आप भी अग्नि प्रकट हो सकती है। इसमें कई युक्तियाँ भी हैं। उनमेंसे कुछ आपकी जानकारीके लिये लिखता हूँ—

अग्नि सर्वत्र व्याप्त है। हमारे शरीरमें भी है। रगड़ लगनेपर वह प्रकट होती है। हाथ-से-हाथ मलिये, वह गरम हो जायगा। अरणि-मन्थनसे (लकड़ियोंको परस्पर रगड़नेसे) अग्नि प्रकट होना तो बहुत लोगोंने देखा होगा। जंगलोंमें पेड़ोंके आपसमें रगड़ लगनेसे अग्नि पैदा हो जाया करती है। चकमक पत्थर आपसमें चोट खानेपर आग उगलते हैं—यह सभी जानते हैं। इसी प्रकार किन्हीं विशेष संयोगोंमें शरीरसे भी अग्नि प्रकट हो सकती है। सतीदेवीने पिता दक्षके यज्ञमें अपने स्वामी भगवान् शंकरका अपमान देखा, तब उन्हें इतना संताप हुआ कि उनके शरीरसे योगानल प्रकट हो गया और वे उसीसे जल गयीं।

शरीरका उत्ताप ज्वरके समय साधारण स्थितिसे कई गुना अधिक हो जाता है और उससे मनुष्य मरतक जाता है। यह गरमी शरीरके अंदरसे ही आती है। कुछ समय पहले 'चेराग' नामक पारसियोंके पत्रमें इस विषयपर लिखा गया था कि मनुष्यके शरीरमें छोटी-बड़ी बहुत गाँठें (Glands) हैं, जो सारे शरीरमें फैली हुई हैं। इन गाँठोंमें कुछ पसीनेकी हैं, जिनसे पसीना झरा करता है; कुछ आँसुओंकी हैं, जिनसे आँसू बहते हैं। कुछ गाँठें ऐसी भी हैं, जिनसे कोई भी रस नहीं झरता दिखायी देता। उन्हें Ductless Glands (रसवाही नलिकारहित ग्रन्थि) कहते हैं। इन गाँठोंके साथ शरीरके कद और आकृतिका सम्बन्ध रहता है। इतना ही नहीं, मनुष्यके चरित्रका भी इनसे सम्बन्ध होता है। जैसे इन गाँठोंसे मनुष्यके चरित्रका निर्माण होता है, वैसे ही मनुष्यके चरित्रका इन गाँठोंपर प्रभाव पड़ता है। सारांश यह कि इन गाँठोंका विचित्र विकास, असाधारण परिवर्तन और विनाश आदिका आधार मनुष्यके अपने जीवनपर निर्भर करता है। फिर जैसी गाँठें होती हैं, उनसे वैसी ही क्रिया भी होती है।

एक सच्ची सती, जिसका तन, मन और हृदय सर्वथा पवित्र है, जो अपने पतिके प्रेमके आधारपर ही जीती है, जिसने अपने हृदयमें

पतिके सिवा किसीको स्थान ही नहीं दिया, जिसका जीवन पतिके लिये सदा आत्मत्यांग करनेमें ही बीता और जो पतिका क्षणभरका भी वियोग सहन करनेमें यथार्थमें असमर्थ है, उसके इन चरित्रगत कार्योंका उसके शरीरकी ग्रन्थियोंपर कैसा प्रभाव होता है और उसके अंदरके तमाम अवयव कैसी असाधारण स्थितिमें पहुँच जाते हैं—इसका हमलोग कुछ भी अनुमान नहीं लगा सकते। ऐसी अवस्थामें पति-वियोगकी स्थितिमें उसके आन्तरिक अवयवोंमें ऐसी विशेष क्रिया हो, जिससे अग्नि प्रकट हो जाय तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है ?

मनुष्यके शरीरमें गलेके आगे एक ग्रन्थि है, जिसे अंग्रेजीमें 'थाइरॉइड ग्लैंड' (Thyroid Gland) कहते हैं। यह गाँठ शरीरमें प्रेम और कामना उत्पन्न करती है, शरीरमें गरमी बढ़ाती है और इसमेंसे निकलनेवाले रसका प्रवाह यदि बढ़ जाता है तो मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है। इस गाँठसे निकलनेवाले रसको 'थाइरॉक्सिन' (Thyroxin) कहते हैं।

इस गाँठ और इससे बहनेवाले रसके सम्बन्धमें डॉ० लुई बरमन एम्० डी० महोदय अपने 'The Glands Regulating Personality' नामक ग्रन्थमें लिखते हैं—

'Since the presence of thyroxin in the tissues determines the rate at which they burn themselves, it is obvious that if there were no mechanism for retarding its action and, at need varying it, they really would set fire to themselves. That is to say, if the tissues held a maximum of the thyroid internal secretion, that had to take more and more as it was fed out to them by the thyroid through the blood, the pressure of energy production would attain the state of a boiler without a safety valve'' P.51.

****

"मनुष्यके शरीरमें मांसपेशियोंके जलती रहने (गरमी प्राप्त करने) का आधार शरीरके 'थाइरॉइड' नामक गाँठसे बहनेवाले रसके परिमाणपर अवलम्बित है। यह निश्चित है कि यदि उस रसकी क्रियाको रोकनेके लिये और आवश्यकता होनेपर विशेष कम करनेके लिये कोई साधन न हो तो मांसपेशियाँ बिलकुल जलकर भस्म हो जायँ। अतएव जिस मांसपेशीमें थाइरॉइडसे बहनेवाला प्रवाह सबसे अधिक परिमाणमें हो और रक्तके द्वारा उसे अधिक-से-अधिक मिलनेवाला प्रवाह जारी रहे तो उसमें पहुँचनेवाली शक्ति (गरमी) का दबाव सेफटी वल्वसे रहित एक बायलरकी स्थितिपर पहुँच जाय।"

अर्थात् जैसे इस प्रकारकी स्थितिमें बायलर फट जाता है, वैसे ही मनुष्यका शरीर जलकर भस्म हो जा सकता है। परंतु मनुष्यमात्रमें ही इस बढ़ती हुई गरमीको सीमाबद्ध रखनेके लिये प्रकृतिने सुन्दर योजना बना रखी है, जिससे स्वास्थ्यकी स्थितिमें मांसपेशीको उतनी गरमी मिलती रहती है, जितनी उसके लिये आवश्यक होती है।

परंतु यदि किसी सतीके पति-वियोगके समय उसके मनकी स्थिति ऐसी असाधारण हो जाय कि जिससे थाइरॉइड-ग्रन्थिपर सीधा प्रभाव पड़े और वह उसकी गरमीको एकदम बढ़ाकर शरीरसे अग्नि पैदा कर दे तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। पतिगतप्राणा प्रेममूर्ति सतीके हृदयमें जब पतिवियोगकी अग्नि सुलगती है, तब उसका रूप कैसा होता है, इसको हमलोग ठीक-ठीक समझ ही नहीं सकते। ऐसी हालतमें गलेके पासकी थाइरॉइड गाँठमें रसका प्रवाह बढ़ जाना और उसके कारण कंधे आदिसे अग्निका फूट निकलना सर्वथा सम्भव और युक्तियुक्त है।

इस स्थितिको डॉ० बरमनने 'हाइपरथाइरॉडिज्म' (Hyper-thyroidism) कहा है। अन्य कई विद्वानोंने भी इस ग्रन्थिविज्ञानका समर्थन किया है।

हमारे शरीरमें एक अग्नि तो खास तौरपर रहती है, जिसे 'जठरानल' कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—'मैं ही वैश्वानर (अग्नि) होकर शरीरके अंदर चतुर्विध अन्नको पचाता हूँ।' जो अग्नि अप्रकटरूपसे सदा वर्तमान है, वह यदि कारणविशेषसे प्रकट हो जाय तो इसमें क्या नयी बात है ? अप्रकट अग्निका प्रकट होना तो हम अपने घरोंमें रोज ही देखते हैं। अतएव मेरी समझसे सतीके शरीरसे अग्निका उत्पन्न होना सर्वथा सम्भव है।

पतिवियोगके अवसरपर बिना किसी रोगके सती स्त्रीके मरणमें तो जरा भी आश्चर्यकी बात नहीं समझनी चाहिये। महान् शोक तथा महान् आनन्दकी दशामें हृदयकी गति रुककर मृत्यु होनेकी घटनाएँ तो बहुत होती हैं। मनका शरीरपर बड़ा भारी असर होता है। भक्तकवि जयदेवकी मिथ्या मृत्युका समाचार सुनते ही उनकी धर्मपत्नी पद्मावतीका प्राणवियोग हो गया था, यह प्रसिद्ध है।

पर यह याद रखना चाहिये, सती होना सर्वथा स्वाभाविक वस्तु है। किसी बाहरी प्रेरणा या चेष्टासे ऐसा नहीं हुआ जाता। साथ ही पतिके साथ सहमरण करनेवाली सतीसे उस सतीदेवीका दर्जा किसी कदर कम नहीं है, बल्कि कई अंशोंमें उसका महत्त्व और भी अधिक है, जो पवित्र ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करती हुई जीवित रहकर पतिके घर तथा बच्चोंकी निष्काम सेवा करती है और अपने पवित्र आचरणोंसे परलोकमें पतिको अनन्त सुख पहुँचाती रहती है।

★

सिद्ध सखीदेह

महोदय ! आपका कृपापत्र मिला। आपने भगवान् श्यामसुन्दरकी नित्यलीलामें सेवाधिकार पानेकी बातपर जो शङ्का की, उसके विषयमें मेरा यह निवेदन है कि वस्तुतः ऐसे महात्मा भक्त इस समय प्रायः बहुत ही कम हैं। तथापि ऐसा होना असम्भव नहीं है। तीन प्रकारके प्रेमी भक्त होते हैं— नित्यसिद्ध, कृपासिद्ध और साधनसिद्ध। 'नित्यसिद्ध' वे हैं, जो श्रीकृष्णके नित्य परिकर हैं और श्रीकृष्ण स्वयं लीलाके लिये जहाँ विराजते हैं, वहीं वे उनके साथ रहते हैं। 'कृपासिद्ध' वे हैं, जो श्रीभगवान्‌की अहैतुकी कृपासे प्रेमियोंका सङ्ग प्राप्त करके अन्तमें उन्हें पा लेते हैं और 'साधनसिद्ध' वे हैं, जो भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌की रुचिके अनुसार भगवत्प्रीत्यर्थ प्रेम-साधना करते हैं। ऐसे साधकोंमें जो प्रेमके उच्च स्तरपर होते हैं, वे किसी सखी या मञ्जरीको गुरुरूपमें वरण करके उनके अनुगत रहते हैं। ऐसे पुरुष समय-समयपर प्राकृत देहसे निकलकर सिद्धदेहके द्वारा लीला-राज्यमें पहुँचते हैं और वहाँ श्रीराधा-गोविन्दकी सेवा करके कृतार्थ होते हैं। ऐसे भक्त आज भी हो सकते हैं। कहा जाता है कि महात्मा श्रीनिवास आचार्य इस स्थितिपर पहुँचे हुए भक्त थे। वे सिद्ध सखीदेहके द्वारा श्रीराधा-गोविन्दकी नित्यलीलाका दर्शन करनेके लिये अपनी सखी-गुरुके पीछे-पीछे श्रीव्रजधाममें जाया करते। एक बार वे ऐसे ही गये हुए थे। उनका स्थूलदेह समाधिकी भाँति निर्जीव पड़ा था। तीन दिन बीत गये। आचार्यपत्नीने पहले तो इसे समाधि समझा; क्योंकि ऐसी समाधि उनको प्रायः हुआ करती थी। परंतु जब तीन दिन बीत

गये, शरीर बिलकुल प्राणहीन प्रतीत हुआ, तब उन्होंने डरकर शिष्य-भक्त रामचन्द्रको बुलाया। रामचन्द्र भी उच्च स्तरपर आरूढ़ थे। उन्होंने पता लगाया और गुरुपत्नीको धीरज देकर गुरुकी खोजके लिये सिद्धदेहमें गमन किया। उनका भी स्थूलदेह वहाँ पड़ा रहा। सिद्धदेहमें जाकर रामचन्द्रने देखा—श्रीयमुनाजीमें क्रीड़ा करते-करते श्रीराधिकाजीका एक कर्ण-कुण्डल कहीं जलमें पड़ गया है। श्रीकृष्ण सखियोंके साथ उसे खोज रहे हैं; परंतु वह मिल नहीं रहा है। रामचन्द्रने देखा, सिद्ध-देहधारी गुरुदेव श्रीनिवासजी भी सखियोंके यूथमें शामिल हैं। तब रामचन्द्र भी गुरुकी सेवामें लगे। खोजते-खोजते कुछ देरके बाद रामचन्द्रको श्रीजीका कुण्डल एक कमलपत्रके नीचे पङ्कमें पड़ा मिला। उन्होंने उसे लाकर गुरुदेवको दिया। उन्होंने अपनी गुरुरूपा सखीको दिया, सखीने यूथेश्वरीको अर्पण किया और यूथेश्वरीने जाकर श्रीजीकी आज्ञासे उनके कानमें पहना दिया। सबको बड़ा आनन्द हुआ। श्रीजीने खोजनेवाली सखीका पता लगाकर परम प्रसन्नतासे उसे चर्वित ताम्बूल दिया। बस, इधर श्रीनिवासजी तथा रामचन्द्रकी समाधि टूटी। रामचन्द्रके हाथमें श्रीजीका चबाया हुआ पान देखकर दोनोंको बड़ी प्रसन्नता हुई थी।

——★——

श्रेय ही प्रेय है

आपका कृपापत्र मिला। श्रेय-प्रेयके विषयमें कठोपनिषद्में यम-नचिकेताके संवादमें बड़ा सुन्दर वर्णन है। आपको उसे वहाँ देखना चाहिये। 'श्रेय' का अर्थ है भगवान्—कल्याण, मङ्गल, शुभ, परम हित आदि और 'प्रेय' का अर्थ है, भोग—अत्यन्त प्रिय, सुखदायक, प्रीतिकर, रमणीय आदि। श्रेयोऽर्थीकी दृष्टि परिणामकी ओर होती है और प्रेयोऽर्थीकी आपातसुखकर भोगोंकी ओर। या यों कहना चाहिये कि प्रेयोऽर्थी प्रत्यक्षवादी होता है और श्रेयोऽर्थी यथार्थवादी। प्रेय अविद्या है और श्रेय विद्या। इसीलिये प्रेयको श्रेयका विरोधी माना गया है। मनुष्य जबतक आपातरमणीय विषयोंके पीछे पागल रहता है और मतवाले भौंरेकी भाँति एक फूलसे दूसरे फूलपर मँडराता रहता है, तबतक उसे प्रेयके अतृप्तिकारक, अनित्य, परिणाममें भय और मृत्यु देनेवाले, दुःखमय स्वरूपका पता नहीं लगता। श्रुति कहती है—'**यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति।**—जो भूमा है, उसीमें सुख है; अल्पमें सुख नहीं है।' जो सदा ही अधूरा है, कभी पूर्ण होता ही नहीं, जिसका आज अस्तित्व है, पर जो कल ही नष्ट हो सकता है अथवा जो प्रतिपल प्रवाहरूपसे विनाशकी ओर ही जा रहा है, उस अल्पात्मा, अल्पकालस्थायी पदार्थमें सुख कहाँ। इसीसे तो श्रीराघवेन्द्र मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा है—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

मनुष्यकी महान्, अनन्त और असीम आकाङ्क्षा है—आत्माके पूर्ण स्वरूपकी उपलब्धि। अतः अल्प, शान्त और ससीम वस्तुसे

उसकी तृप्ति कैसे हो सकती है ? फिर, प्रेयका सुख तो वास्तवमें अल्प भी नहीं है। उसमें तो सुखका केवल भ्रम ही होता है। अज्ञानके कारण ही आपातरमणीय वस्तु सुखकर प्रतीत होती है। जैसे जहरके लड्डू मीठे प्रतीत होते हैं, परंतु परिणाममें मृत्युकारक होते हैं, वैसे ही प्रेम—भोग भी बार-बार मृत्युके मुखमें ही ले जानेवाले हैं। इतनेपर भी प्रेयका मोह नहीं छूटता।

शास्त्र और संत डंकेकी चोट भोगोंकी दुःखरूपता और हेयताका प्रतिपादन करते हैं तथा बीच-बीचमें श्रेयकी सुन्दर झाँकी भी करा देते हैं; परंतु मनुष्य प्रेयको ही सुखकर मानता है और श्रेयकी उपेक्षा करता है। तथापि श्रेयस्वरूप आत्माका लक्ष्य स्वाभाविक ही श्रेय होनेके कारण उसे अन्यत्र कहीं भी विश्राम नहीं मिलता। वह प्रेयके लक्ष्यसे जहाँ भी जाता है, वहीं उसे—चाहे वह उसे न समझे—श्रेयकी ही आवश्यकता प्रतीत होती है, श्रेयके लिये ही उसके प्राण छटपटाते हैं। वह सर्वत्र पूर्णको ही खोजता है। यों करते-करते भगवत्कृपासे जब कभी ज्ञानकी आँखें खुलने लगती हैं, तब उसे प्रतीत होने लगता है कि वास्तवमें एकमात्र भगवान् ही—जो जीवमात्रके अंदर आत्मारूपसे विराजित हैं **(अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।)** परमपूर्ण सुखस्वरूप हैं। जगत्‌के जितने पदार्थ हमें प्रिय और आवश्यक प्रतीत होते हैं, वे सभी इस आत्माकी प्रियताको लेकर ही या आत्माके लिये ही प्रिय प्रतीत होते हैं। आत्माके लिये ही उनसे हमारा प्रेम होता है, उन पदार्थोंके लिये नहीं।

'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' (बृह० २।४।५)

याज्ञवल्क्यने कहा—अरी मैत्रेयी ! सबके लिये सब प्रिय नहीं

होते, आत्माके लिये ही सब प्रिय होते हैं, अतः सबसे बढ़कर प्रेय वस्तु आत्मा ही है।

'तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा।' (बृह० १।४।८)

'यह जो अन्तरतर आत्मा है,यह पुत्रसे बढ़कर प्रिय है, वित्तसे बढ़कर प्रिय है, यह सभीसे बढ़कर प्रिय है।' इस अवस्थामें प्रेय भी श्रेयका ही रूपान्तर या नामान्तर हो जाता है; क्योंकि यहाँ श्रेयःस्वरूप—मङ्गलमय परम प्रेमास्पद प्रेममय भगवान् ही प्रेय बन जाते हैं। ऐसी अवस्थामें जीवनके समस्त कार्य—इन परम प्रेय भगवान्के सुखके लिये ही होते हैं। असलमें जो सुख आत्माके लिये सुखकर हो, वही 'श्रेय' है और जो इन्द्रियोंके लिये सुखकर हो, वही 'प्रेय' है। भगवान् आत्माके भी आत्मा, परमात्मा हैं। इनकी प्रीतिके लिये जो सांसारिक भोगोंका ग्रहण होता है, वह वस्तुतः विषयोपभोग नहीं होता; वह तो विषयरूप सामग्रीके द्वारा भगवान्का पूजन होता है और इसीलिये उसका परम फल भी परम श्रेय—कल्याण ही है।

भक्ति-साम्राज्यकी सर्वोच्च साम्राज्ञी श्रीराधिकाजी एवं उनकी अभिन्न-प्रतिमा व्रजाङ्गनाएँ इसी भावसे परम प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णके लिये जीवनके समस्त कार्य करती थीं। उनका भगवान्के प्रति वात्सल्य और मधुर-भाव इसी बुद्धिसे था। राजा परीक्षित्के यह पूछनेपर कि 'गोपियोंका अपने पति-पुत्रादिसे भी बढ़कर श्रीकृष्णमें प्रेम क्यों हुआ ?' श्रीशुकदेवजीने कहा है—

तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम्॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।

(श्रीमद्भा० १०।१४।५४-५५)

‘आत्मा ही सब प्राणियोंके लिये प्रियतम है। यह सारा चराचर जगत् (पति-पुत्र, भूमि-भवन, साम्राज्य-सुख्याति आदि) आत्माके सुखके लिये ही प्रिय हुआ करता है और श्रीकृष्ण ही अखिल आत्माओंके आत्मा हैं (इसीलिये श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका इतना स्नेह है)।’ भगवान् श्रीकृष्णने गोपाङ्गनाओंके विषयमें स्वयं उद्धवजीसे कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।

(श्रीमद्भा० १०।४६।४)

‘गोपियोंने अपने मन और प्राण मेरे समर्पण कर दिये हैं और मेरे लिये ही उन्होंने समस्त देह-सम्बन्धियोंका त्याग कर दिया है।’

इससे सिद्ध है कि यहाँ प्रेय और श्रेयमें कोई भेद नहीं रह गया है। श्रेय ही प्रेय है और प्रेय ही श्रेय है। श्रेयस्वरूप श्रीकृष्ण ही प्रियतम हैं और प्रियतम श्रीकृष्ण ही श्रेयस्वरूप हैं। इस प्रकार श्रेयको प्रेय बना लेनेमें ही मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है।

═══★═══

प्रार्थना

आपका कृपापत्र मिला। आप अपनी भाषामें अपने हृदयके उद्गार आर्त और दीनभावसे 'श्रीभगवान् अपने अत्यन्त समीप हैं और सब कुछ देख-सुन रहे हैं' ऐसा विश्वास करके भगवान्‌के सामने रखिये; कातर पुकार कीजिये और सच्चे मनसे रोकर अपनी स्थिति उन्हें बताइये। यही सच्ची प्रार्थना है। सच्ची प्रार्थनामें बड़ी शक्ति है। आपको प्रार्थनाका मङ्गलमय उत्तर मङ्गलमय श्रीभगवान्‌की ओरसे अवश्य मिलेगा। इसपर विश्वास कीजिये। आप करुण-प्रार्थनाके कुछ श्लोक चाहते हैं, सो प्रार्थनाके हजारों-लाखों श्लोक हैं। संस्कृत-साहित्य स्तुतियोंसे भरा है। यहाँ कुछ श्लोक लिख रहा हूँ। इनसे लाभ उठाइये—

न ध्यातोऽसि न कीर्तितोऽसि न मनागाराधितोऽसि प्रभो
नो जन्मान्तरगोचरे तव पदाम्भोजे च भक्तिः कृता।
तेनाहं बहुदुःखभाजनतया प्राप्तो दशामीदृशीं
त्वं कारुण्यनिधे विधेहि करुणां श्रीकृष्ण दीने मयि॥

'प्रभो! न तो मैंने कभी ध्यान किया, न कीर्तन किया और न जरा-सी आराधना ही की। अनेक जन्मोंमें प्रत्यक्ष होनेवाले तुम्हारे चरण-कमलोंमें कभी भक्ति भी नहीं की। इसीसे अतिशय दुःखका पात्र बनकर मैं ऐसी दशाको प्राप्त हुआ हूँ। तो भी हे करुणाके सागर! मुझ दीनके प्रति आप करुणा (दया) कीजिये।'

परमकारुणिको न भवत्परः
परमशोच्यतमो न च मत्परः।
इति विचिन्त्य हरे मयि पामरे
यदुचितं यदुनाथ तदाचर॥

'हे हरे ! तुमसे बढ़कर परम कारुणिक और कोई नहीं और मुझसे बढ़कर परम शोचनीय और कोई नहीं। हे यदुनाथ ! यों समझकर मुझ पामरके लिये जो उचित हो, वही कीजिये।'

न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके
सहस्रशो यन्न मया व्यधायि।
सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द
क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे॥

'हे मुकुन्द ! संसारमें ऐसा कोई भी निन्दित कर्म नहीं है, जिसे मैंने हजारों बार नहीं किया है। वही मैं अब, जब उन कर्मोंके फल पानेका अवसर आया है, तब कोई भी पथ न पाकर तुम्हारे आगे रो रहा हूँ।'

अभूतपूर्वं मम भावि किं वा
सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम्।
किंतु त्वदग्रे शरणागतानां
पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः॥

'हे नाथ ! अबतक जैसा दुःख नहीं हुआ है, वैसा दुःख अथवा भविष्यमें होनेवाले इन सब दुःखोंको मैं सह लूँगा; क्योंकि वे दुःख तो मेरे साथ ही उत्पन्न हुए हैं। (दुःखोंको सहनेका मैं अभ्यासी बन गया हूँ।) किंतु स्वामिन् ! जो तुम्हारी शरणमें आ गये हैं, उनका तुम्हारे सामने पतन होना तुम्हारे अनुरूप तो नहीं ही है।

शरणमसि हरे प्रभो मुरारे
जय मधुसूदन वासुदेव विष्णो।
निरवधिकलुषौघकारिणं मां
गतिरहितं जगदीश रक्ष रक्ष॥

'हे हरे ! मुरारे ! प्रभो ! एकमात्र तुम्हीं मेरे आश्रय हो।

मधुसूदन ! वासुदेव ! विष्णु ! तुम्हारी जय हो। मैंने निरन्तर ढेर-के-ढेर पाप किये हैं। मुझे कहीं गति नहीं है। जगदीश्वर ! मेरी रक्षा कीजिये !'

अयि नन्दतनुज किंकरं
पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पादपङ्कजस्थित-
धूलीसदृशं विभावय॥

'ऐ नन्दकिशोर ! मैं तुम्हारा किंकर हूँ, विषम भवसागरमें गिर पड़ा हूँ। कृपया मुझे अपने चरण-कमलोंकी धूलिके समान समझ लो।'

दिनादौ मुरारे निशादौ मुरारे
दिनार्द्धे मुरारे निशार्द्धे मुरारे।
दिनान्ते मुरारे निशान्ते मुरारे
त्वमेको गतिर्नस्त्वमेको गतिर्नः॥

'मुरारे ! दिनके आरम्भमें, मुरारे ! रातके आरम्भमें, मुरारे ! दोपहरको, मुरारे ! आधी रातको, मुरारे ! दिनके अन्तमें और मुरारे ! रातके अन्तमें हमारे तो तुम्हीं एकमात्र गति हो, तुम्हीं एकमात्र गति हो।'

दीनबन्धुरिति नाम ते स्मरन्
यादवेन्द्र पतितोऽहमुत्सहे।
भक्तवत्सलतया त्वयि श्रुते
मामकं हृदयमाशु कम्पते॥

'यादवेन्द्र ! तुम्हारे 'दीनबन्धु' नामका स्मरण करनेपर मेरे मनमें बड़ा उत्साह हुआ था; क्योंकि मैं पतित (दीन) हूँ; परंतु अभी तुम्हारा 'भक्तवत्सल' नाम सुनकर तो मेरा हृदय काँप रहा है। (क्योंकि मैं तो भक्त हूँ नहीं, फिर तुम मुझपर कैसे कृपा करोगे ?)'

विवृतविविधबाधे भ्रान्तिवेगादगाधे
बलवति भवपूरे मज्जतो मे विदूरे।
अशरणगणबन्धो हा कृपाकौमुदीन्दो
सकृदकृतविलम्बं देहि हस्तावलम्बम्॥

'जिसमें विविध बाधाएँ विस्तृत हैं, जो भ्रान्तिके वेगसे अगाध है, ऐसे बलवान् संसार-समुद्रमें मैं बहुत दूर डूब रहा हूँ। हे अशरणोंके बन्धु! हे कृपाचन्द्रिका फैलानेवाले चन्द्रमा! हाय! आप मुझ डूबते हुएको एक बार तुरंत हाथका सहारा दीजिये।'

असलमें श्लोकोंका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। महत्त्व तो है हृदयकी सच्ची दीनतापूर्ण पुकारका। आप हृदयसे भगवान्‌को पुकारिये।

★

स्वाधीनताके नामपर उच्छृङ्खलता

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। जहाँतक मेरी समझ है, आप जिस प्रकारकी स्वाधीनता चाहते हैं, वह स्वाधीनता नहीं है, वह तो उच्छृङ्खलता है। स्वाधीनता मानवताकी रक्षा करती है, मानवको देवत्वमें ले जाती है और उसे कल्याणपथपर आरूढ़ कराके जीवनके परम लक्ष्यतक पहुँचा देती है; परंतु उच्छृङ्खलता तो ऐसा धक्का लगाती है कि ऊपर उठा हुआ मनुष्य भी नीचे गिर जाता है। मन-इन्द्रियोंपर स्वामित्व हो जाना ही वास्तविक स्वाधीनता है। कड़े-से-कड़े संयम-नियमोंके पालनमें भी मन-इन्द्रिय कभी विद्रोह न करें, परंतु सुसंस्कृत और सुशिक्षित आज्ञाकारी सेवककी भाँति सुचारुरूपसे आत्माकी प्रत्येक आज्ञाका भलीभाँति अनुसरण करें, तभी मनुष्य 'स्वाधीन' कहला सकता है। **'व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य'** के नामपर शास्त्रकी विधियोंका और संयम-नियमका उल्लङ्घन करना लक्ष्यभ्रष्ट होकर उलटे सर्वथा परतन्त्र बनना है। जो लोग यथेच्छाचारको स्वतन्त्रता कहते और किसी भी नियमको न मानकर मनमाने आचरणको परम पुरुषार्थ समझकर गर्व करते हैं, वे परतन्त्रताकी कठिन बेड़ीसे कभी नहीं छूट सकते। आज हिंदूजातिमें यह दोष बहुत बड़े रूपमें आ गया है, खास करके सुशिक्षित कहलानेवाले युवक-समुदायमें। इसीसे आज हिंदूजाति पद-पदपर तिरस्कृत और लाञ्छित हो रही है। इसमें न वीरता है, न बुद्धिमत्ता। मौलाना अबुल कलाम आजाद साहेब कांग्रेसका सभापतित्व करते समय भी नमाजका वक्त होनेपर सारी कार्यवाही बंद करके नमाज पढ़ने चले जाते थे। उनमें धर्मके नियमकी पाबंदी थी। परंतु आज संध्यावन्दनके लिये कौन हिंदू ऐसा करता है?

खान-पानके कुछ विशेष नियम हिंदुओंकी परम्परागत निज सम्पत्तिके रूपमें हैं। आज हिंदू उन्हें उदारताके नामपर तिलाञ्जलि देकर सबकी जूँठन खाने तथा अभक्ष्य-भक्षण करनेके लिये ललचा रहे हैं।

घरके नियम उन्हें बहुत बुरे मालूम होते हैं; परंतु इससे क्या कभी प्रेम हो सकता है ? पाण्डव-कौरव तो भाई-भाई थे। एक ही घरमें जन्मे और साथ-साथ खा-पीकर बड़े हुए थे; परंतु दोनोंमें महान् भयंकर युद्ध हुआ। यूरोप-अमेरिकाके लोगोंमें तो साथ खाने-पीनेमें कोई भी परहेज नहीं है; फिर भी उनमें दो महायुद्ध तो हो गये और तीसरेका उद्योगपर्व चल रहा है। प्रेमका सम्बन्ध तो मनसे है। जबतक मनमें भेदज्ञान है—जबतक मन बेमेल है, तबतक बाहरी खान-पानकी एकतासे कुछ भी नहीं हो सकता।

यही बात स्पर्शके सम्बन्धमें है। हिंदू-आचारके अनुसार रजस्वला माताका भी स्पर्श नहीं किया जा सकता; परंतु इससे माताके प्रति भक्तिमें कोई कमी थोड़े ही आती है। हिंदू-आचारमें अपने ही किसी अङ्ग—जैसे मस्तक, कान आदिका स्पर्श करके पवित्र होना माना जाता है तो किसी अङ्गका—गुदा, उपस्थ आदिका स्पर्श करके हाथ धोनेका विधान है। पर इससे क्या उन अङ्गोंके एक ही शरीरके विभिन्न एक-से-एक बढ़कर प्रिय अवयव होनेमें कभी कोई बाधा आती है ? इसी प्रकार अन्त्यज भाई विराट् हिंदू-शरीरके अत्यावश्यक अभिन्न अवयव हैं। वे अन्यान्य अङ्गोंकी भाँति ही परम प्रिय हैं; परंतु उनका यह प्रेम केवल स्पर्शमें ही नहीं समाया है। असलमें प्रेम मनसे होता है और वही असली प्रेम है। बाहरके व्यवहारमें विषमता और आत्मामें समता अनिवार्य है; क्योंकि आत्मा नित्य, सम और एक है तथा व्यावहारिक सृष्टिकी उत्पत्ति ही प्रकृतिके वैषम्यको लेकर हुई है।

जो लोग प्रकृतिके इस वैषम्यको मिटाकर शास्त्रके नियमोंका उल्लङ्घन कर स्वाधीनताके नामपर स्वेच्छाचार करना चाहते हैं, वे वास्तवमें स्वाधीनताके यथार्थ तत्त्व और महत्त्वको ही नहीं समझते।

मेरे उपर्युक्त निवेदनसे आपका कुछ समाधान हुआ तो मुझे प्रसन्नता होगी।

★

सबकी सफलता एकमात्र भजनमें ही है

प्रिय महोदय ! सादर हरिस्मरण। श्रीमद्भागवतमें आया है—

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥

(११।७।७४)

'जो मनुष्य मोक्षके खुले दरवाजेके समान मनुष्यलोकको पाकर भी अबोध पक्षियोंकी भाँति (स्त्री-पुत्र-परिवारादि) घरमें आसक्त हो रहे हैं, उन्हें बहुत ऊपर चढ़कर भी गिरा हुआ ही मानना चाहिये।'

गोस्वामीजीने कहा है—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(मानस ७।४२।४;४३ दोहा)

अतएव हमलोगोंको मन लगाकर दृढ़ता और त्वराके साथ भगवत्प्राप्तिके पथपर अग्रसर होना चाहिये। मनुष्य-जीवनका परम और चरम पुरुषार्थ भगवत्प्राप्ति ही है। जीवनकी अमूल्य घड़ियाँ बीती जा रही हैं। जबतक शरीर स्वस्थ है, तभीतक कुछ कर लीजिये। जब शरीर अस्वस्थ हो जायगा, इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जायँगी, मन व्याधियोंके कारण विचलित हो जायगा, उस समय भजन सहजमें नहीं हो सकेगा। अभी चेतिये और अपने जीवनका अधिक-से-अधिक समय और विचार भगवान्‌के मङ्गलमय भजनमें ही लगाइये। तभी मानव-शरीरकी सार्थकता है—

'सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा॥'

(मानस ७। ९५। १/२)

वही शरीर पवित्र और वही सुन्दर है, जिससे श्रीभगवान् राघवेन्द्रका भजन होता है।

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता॥
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जा कर मन राता॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना॥
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥

(मानस ७। १२६। १-२)

सारे गुणोंकी, धर्मकी, कुलकी, विद्याकी, ज्ञानकी, नीतिकी, बुद्धिमत्ताकी, पाण्डित्यकी, चतुराईकी, विज्ञानकी और मानवताकी सफलता, बस एकमात्र भजनमें ही है।

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

(मानस ७। १२२ क)

——★——

सच्चे साधकके लिये निराशाका कोई कारण नहीं

प्रिय महोदय ! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। 'आप सच्चे हृदयसे यथासाध्य साधन करते हैं, नियमित स्वाध्याय करते हैं, जहाँतक बनता है, भगवान्‌को याद रखनेकी और निषिद्ध कर्मोंसे तन-मन-वचनसे बचनेकी चेष्टा करते हैं, तो भी अभीतक आपकी, आप जैसी चाहते हैं, वैसी स्थिति नहीं हुई है, इससे कभी-कभी निराशा-सी हो जाती है', सो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। साधकके जीवनमें ऐसे बहुत-से अवसर आते हैं, जब उसे निराशाका सामना करना पड़ता है। पर वास्तवमें आपको जरा भी निराश नहीं होना चाहिये। अर्जुनने जिस क्षण भगवान्‌की शरणागति स्वीकार की थी, **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** कहा था और गीताके अन्तमें **'करिष्ये वचनं तव'** कहकर भगवान्‌का आदेश पालन करनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसी क्षण उनकी विजय हो चुकी थी। तथापि उन्हें बड़े-बड़े महारथियोंसे अठारह दिनोंतक भयंकर युद्ध करना पड़ा। बीच-बीचमें कई बार पराजयका-सा प्रसङ्ग आया, निराशाकी घड़ियाँ आयीं; पर वे सब विजयके साधनमात्र थे। इसी प्रकार साधकके जीवनमें जो अपने प्राचीन स्वभावसे लड़ते-लड़ते कभी-कभी थकान मालूम होती है—निराशा-सी होती है, वह तो उसकी सफलताके चिह्न हैं। उनसे जरा भी डरना या घबराना नहीं चाहिये। प्रत्युत ऐसी स्थितिमें भगवान्‌के बलपर अपनी सफलताका और भी दृढ़ निश्चय करना चाहिये तथा साधनको और भी प्रबल बनाना चाहिये। अमावस्याकी चार प्रहरकी

रात्रि बीत जानेपर भी घड़ी समीप न होनेकी अवस्थामें अन्धकार ज्यों-का-त्यों प्रतीत होता है। इससे भूलसे ऐसा मानकर निराशा हो सकती है कि 'अमावस्याकी रात्रि तो वैसी-की-वैसी ही बनी है; पता नहीं, इसका अन्धकार कभी मिटेगा या नहीं।' परंतु वस्तुस्थिति तो यह है कि अब प्रकाशमें बहुत ही थोड़ा-सा समय अवशेष रह गया है। सूर्योदय होते ही अमावस्याका घोर अन्धकार जादूके घरकी तरह अकस्मात् विलीन हो जायगा। उसका पता भी नहीं लगेगा। प्रभातके प्रकाशसे सभी दिशाएँ प्रफुल्लित हो उठेंगी। इसी प्रकार जब आपके साधनका परिणाम सहसा प्रकट होगा, तब आपका भी रोम-रोम खिल उठेगा। आपको अपूर्व आनन्द होगा। जो साधक भगवत्कृपाका आश्रय लेकर सचाईके साथ साधनमें संलग्न है और अपनी शक्तिभर साधन करनेमें प्रमाद नहीं करता, आप सच मानिये, उसकी अमावस्याकी रात्रि लगातार कट रही है, चाहे वह उसे दिखायी न दे।

अतएव आप जरा भी निराश न होइये। जो एक बार भी भगवान्‌के शरण हो गया है, उसके लिये कोषसे निराशाका शब्द ही निकल गया है। यह निश्चय मानिये। विशेष भगवत्कृपा।

═══★═══

विपत्तिसे बचनेके उपाय

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। अनीति, शास्त्रविरोधी असत् आचरण और प्रेम-पिशाचोंकी-सी छीना-झपटीका जैसा प्रवाह चल रहा है, उसे देखते अभी तो यही प्रतीत होता है कि विपत्तियां और दुःखोंकी और भी वृद्धि होगी। तीसरे युद्धके प्रसङ्ग भी बन रहे हैं, ज्योतिषियोंने आगामी कालको संकटपूर्ण बताया है। हालमें ही उगनेवाले पुच्छल तारेका भी ऐसा ही कुछ फल बतलाया जाता है। मेरी समझसे तो इसका सर्वप्रधान एक ही उपाय है और यह है भगवान्का स्मरण, भगवत्प्रार्थना और भगवत्-शरणागति। तीनों एक ही वस्तुके नाम हैं, एक-दूसरेके आश्रित हैं और एककी दूसरेसे वृद्धि होती है। अतएव यदि हम अपना और जगत्का यथार्थ कल्याण चाहते हैं तो हमें स्वयं भगवान्की शरण लेनी चाहिये और दूसरोंको विनयपूर्वक ऐसा करनेके लिये प्रेरणा-प्रार्थना करनी चाहिये। इसीमें सबका कल्याण है।

आपने यह ठीक लिखा है—'महात्मा गांधीजीकी राजनीतिक बातोंको तो लोग मानते हैं, परंतु उनकी भगवत्प्रार्थना और मानवमात्रके हितकी बातको कार्यतः बहुत ही कम लोग मानते हैं।' वस्तुतः ऐसी ही स्थिति है। इसीसे तो हमारी विपत्तियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं। विशेष भगवत्कृपा।

—★—

सभी अभीष्ट भजनसे सिद्ध होते हैं

सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, धन्यवाद ! आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

१—भगवत्प्राप्ति अथवा मोक्षका सुगम उपाय

संसारमें बार-बार जन्म लेना और मरना—यही जीवका सबसे बड़ा बन्धन है। कष्ट या दुःख भी इससे बढ़कर दूसरा नहीं है। इस महान् बन्धन या दुःखसे छूटना ही 'मोक्ष' है। मनुष्य पूर्ण सुख चाहता है, अखण्ड शान्ति चाहता है और पूर्ण तृप्ति चाहता है। इसीके लिये वह संसारके विषय-भोग, धन-वैभव आदिका संग्रह करता है। परंतु वहाँ उसे परिणाममें दुःख, अशान्ति और अतृप्ति ही हाथ लगते हैं। जहाँ नित्य पूर्ण सुख, नित्य पूर्ण शान्ति और नित्य पूर्ण तृप्ति प्राप्त हो, वह आश्रय हैं भगवान् श्रीकृष्ण। संसारसे विरक्त होकर उन भगवान्की शरण लेना और उनका कृपा-प्रसाद प्राप्त करके सदाके लिये कृतार्थ हो जाना ही जीवका परम पुरुषार्थ है। इसे ही 'भगवत्प्राप्ति' कहते हैं, मोक्ष भी यही है। प्यास तभी मिटती है, जब शीतल जलका पान किया जाय। दुःखोंसे छुटकारा भी तभी होता है, जब कोई नित्य सुखमय आश्रय प्राप्त हो जाय। केवल दुःखोंका अभाव ही नहीं, नित्य सुखकी प्राप्ति भी मोक्षका अङ्ग है।

इसका सबसे सुगम उपाय है—भगवान्का अनन्यभावसे भजन। सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते हर समय भगवान्का निरन्तर स्मरण होता रहे; धीरे-धीरे, किंतु लगनसे इसका अभ्यास डालना

चाहिये। भगवान् ही अपने माता-पिता, गुरु-स्वामी और सखा हैं। वे ही पालक और सहायक हैं। उनका वरद हस्त सदा अपने ऊपर है—इस विश्वासके साथ अपनी और अपनी कहलानेवाली प्रत्येक वस्तुको मनके द्वारा भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर देना ही अनन्य भजनका सबसे उत्तम प्रकार है। अपनी प्रत्येक क्रिया भगवान्के लिये हो, भगवान्की इच्छासे हो। शास्त्रोंकी आज्ञा भगवान्की आज्ञा है। अतः शास्त्रीय विधि-निषेधका पूर्णरूपसे पालन करना चाहिये। उसका कोई फल हो तो वह भगवान्को ही मिले—ऐसी धारणा रखकर फलकी कामना कदापि नहीं रखनी चाहिये। इस प्रकार भगवान्के शरणागत होकर भगवान्के लिये ही जीवन धारण करनेवाला भक्त शीघ्र ही भगवान्को प्राप्त कर सकता है। आवागमनके बन्धनों और दुःखोंसे सदाके लिये मुक्त हो सकता है।

इससे व्यवहारमें भी बाधा नहीं आती। संसारके कार्य यथावत् रूपसे करते हुए भी, यह सब ईश्वरकी इच्छासे तथा आज्ञासे और उन्हींके लिये हो रहा है, ऐसा भाव रखते हुए कभी मनमें अभिमान नहीं आने देना चाहिये। मान लीजिये, एक गृहस्थ है। उसे अपने वर्ण और आश्रमके अनुरूप कार्य करते हुए कुटुम्बका भरण-पोषण करना है। वह वर्ण और आश्रमके अनुरूप जो कार्य करता है, उसे भी भगवान्की आज्ञा समझकर उन्हींकी प्रसन्नताके लिये करे तथा कुटुम्बमें जितने भी प्राणी हैं, उन सबके रूपमें भगवान् ही आकर मुझसे यथायोग्य सेवा ले रहे हैं—ऐसा मानकर धर्मसम्मत न्यायोपार्जित धनसे उनका भरण-पोषण करे। इससे उसकी प्रत्येक क्रिया भजन बन जाती है। वास्तवमें सब भगवान् ही हैं, अतः किसी भी प्राणीकी सेवा उन्हींकी पूजा है। मनुष्य अज्ञानवश ऐसा न समझकर अहंकार और आसक्तिके

वशीभूत होकर सारे कार्य करते हैं, सुतरां बन्धनमें पड़ते और दुःख उठाते हैं। अतः सबमें भगवान्का दर्शन करके सबकी यथायोग्य, यथाशक्ति तथा यथाधिकार सेवा करनी चाहिये। इससे शीघ्र भगवान्की प्राप्ति हो सकती है।

२—आशा-तृष्णा आदिके नाशका उपाय

आशा, तृष्णा, मोह, दम्भ और अभिमान—ये सभी दुर्गुण मलिन अन्तःकरणमें ही अङ्कुरित होते हैं। अतः इनके नाशका उपाय भी भजन ही है। भगवान्के नामका जप करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। शुद्ध अन्तःकरणमें उक्त दोषोंका उद्गम नहीं होता। वे सब अज्ञानके कार्य हैं। भजनसे अज्ञान दूर होता है और विज्ञानका आलोक प्राप्त होता है। संसारके विषयोंमें आसक्ति होनेसे आशाकी उत्पत्ति और तृष्णाकी वृद्धि होती है। इस आसक्तिका निवारण विषयोंसे वैराग्य होनेपर ही सम्भव है। विषयोंसे वैराग्य तभी हो सकता है, जब उनकी आपातरमणीयता, असारता एवं दुःखरूपका दृढ़ निश्चय हो जाय। अथवा भगवान्के प्रति दृढ़तर अनुराग हो जाय तो विषयोंसे स्वतः वैराग्य हो सकता है। परंतु ये दोनों बातें अन्योन्याश्रित हैं। वैराग्य होनेपर भगवान्के प्रति अनुराग होगा और अनुराग होनेपर वैराग्य होगा। अतः विषय-वैराग्य और भगवदनुरागके लिये भी हमें भजनकी ही शरण लेनी होगी। भजनसे तीन कार्य एक साथ ही होते हैं—भगवान्के प्रति प्रेम बढ़ता है, विषयोंकी ओरसे विरक्ति होने लगती है और धीरे-धीरे भगवान्के तत्त्वका ज्ञान भी होता जाता है।

लोकमें भी यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है—एक व्यक्ति किसीसे प्रेम करता है तो अन्यत्रसे उसकी आसक्ति हटती है और प्रेममात्रमें अनुराग बढ़ता है। जितना ही प्रेम या अनुराग बढ़ता है,

उतनी ही मात्रामें प्रेमी अपने प्रेमास्पदके अन्तरङ्ग रहस्योंसे परिचित होता जाता है। इस प्रकार ज्ञान, वैराग्य और प्रेम—तीनों साथ-साथ बढ़ते हैं। जैसे भोजनके एक-एक ग्राससे क्षुधाकी निवृत्ति, तृप्ति और पुष्टि साथ-साथ होती है, उसी प्रकार भजनसे भगवान्‌के प्रति प्रेम, उनके रहस्योंका ज्ञान और अन्यत्रसे वैराग्य—तीनों साथ-साथ चलते हैं।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४२)

३—मन-इन्द्रियोंका संयम

इन्द्रिय और मनके संयमका भी अमोघ उपाय है भगवान्‌का भजन—उनकी लीला-कथाओंका श्रवण, पठन और चिन्तन। यह अनुभूत मार्ग है। उपर्युक्त प्रकारसे जब वैराग्य हो जाता है, तब मन-इन्द्रियोंका संयम स्वतः सिद्ध हो जाता है। इन्द्रियाँ सदा मनके शासनमें रहती हैं। अतः मनोनिग्रह सिद्ध होनेपर इन्द्रियोंका संयम अपने-आप हो जाता है। मनका संयम आरम्भमें बहुत कठिन होता है; क्योंकि मन बड़ा चञ्चल है। भगवान्‌का दिव्य रस उसे मिल जाय, तब तो वह भी स्थिर एवं एकाग्र हो जाता है; किंतु उस रसानुभवके पूर्व भी उसके रोकनेका उपाय अभ्यास और वैराग्य है। भगवान् स्वयं कहते हैं—'**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।**'भगवान्‌की शरण लेकर दृढ़ निश्चय और श्रद्धाके साथ अभ्यास आरम्भ करनेपर कुछ ही कालमें मन अपना अनुचर बन जाता है।

═══★═══

श्रेष्ठ साध्यके लिये श्रेष्ठ साधन ही आवश्यक है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने लिखा कि एक आदमी चाहता है कि मैं बहुत धन कमाकर उसके द्वारा लोकसेवा तथा भगवत्सेवाके पवित्र कार्य करूँ। परंतु धन कमानेमें असत्य, छल, कपट, चोरी, हिंसा, दूसरोंका स्वत्वहरण और बही-खातोंमें झूठा जमा-खर्च आदि करने पड़ते हैं। इनके बिना काम ही नहीं चलता। ये न किये जायँ तो आजकल सीधे उपायसे धन आना असम्भव है और धनके न होनेपर लोकसेवा तथा भगवत्सेवाके कार्य नहीं हो सकते। ऐसी अवस्थामें क्या करना चाहिये ? क्या श्रेष्ठ उद्देश्यकी सिद्धिके लिये इस प्रकारके अनिवार्य दोषोंका स्वीकार करना पाप है ? जब साध्य उत्तम है, कर्ताका भाव शुद्ध है और उसकी नीयत अच्छी है, तब फिर साधन यदि निकृष्ट भी हों तो क्या हानि है ? भगवत्प्राप्तिके लिये यदि कभी निषिद्ध कर्म भी करने पड़ें तो क्या वह कोई बुरी बात है ?

इसका सीधा उत्तर यह है कि फल वही होता है, जिसका बीज होता है। जब साधन निकृष्ट है, तब साध्य श्रेष्ठ कहाँसे आयेगा ? एक आदमीका सर्वथा शुद्ध उद्देश्य है कि मुझको आम मिले; उसका भाव भी यही है और नीयत भी अच्छी है; पर वह बोता है आकके बीज, तो बताइये उसे आम कहाँसे मिलेंगे। इसी प्रकार नीयत, उद्देश्य और भाव कुछ भी हो—झूठ, कपट, छल, चोरी और हिंसा आदि साधनोंसे सच्ची लोकसेवा और भगवत्सेवारूपी परिणाम कभी नहीं हो सकता। बुरेका अच्छा फल होगा यह तो अज्ञानविमोहित आसुरी भाववालोंकी

(यद्यपि केवल धनके द्वारा सेवा बनती नहीं, उसके लिये तो सेवाके योग्य मन चाहिये) परंतु इसका क्या निश्चय है कि मनुष्य अपने इच्छानुसार धन कमा ही लेगा। सम्भव है, जीवनभर जीतोड़ प्रयत्न करनेपर भी धन न मिले। कदाचित् मिल भी गया तो फिर यह कौन कह सकता है कि उस समय लोक-सेवा और भगवत्सेवाकी विशुद्ध भावना बनी ही रहेगी। सच्ची और युक्तिसंगत बात तो यह है कि असत्य, चोरी, छल, कपट, हिंसा आदि दुष्ट साधनोंमें लगे रहनेसे चित्तकी अशुद्धि बढ़ जायगी और अशुद्ध चित्तमें शुद्ध भावनाओंका टिकना सम्भव नहीं है। अतएव लोक-सेवा और भगवत्सेवा नहीं बन सकेगी। लोक-सेवा और भगवत्सेवाके नामपर कहीं कोई दम्भ भले ही बन जाय। हाँ, एक फल अवश्य होगा; जीवनभर दूषित कर्मोंमें लगे रहनेसे पापोंकी वृद्धि होगी। दूषित संस्कारोंके कारण अन्तकालमें बुरी वस्तुका चिन्तन होगा और परिणामस्वरूप बुरी गति अवश्य प्राप्त होगी।

अवश्य ही कुछ समझदारलोग भी ऐसा मानते हैं कि 'साध्य उत्तम है तो फिर साधन कैसा भी क्यों न हो। हमें तो साध्यको प्राप्त करना है, फिर चाहे वह किसी भी साधनसे हो।' पर यह बड़ी भूल है। जैसा साधन होगा, वैसा ही साध्य बनेगा और जैसा साध्य होगा, वैसा ही साधन होगा। यदि किसीका साधन निकृष्ट है तो सच मानना चाहिये कि उसका साध्य भी श्रेष्ठ नहीं है। भले ही वह भूलसे, धोखेसे या दम्भसे अपने साध्यको श्रेष्ठ कहता हो। चोरी करके साधु-सेवा करना, अतिथि-सत्कारके लिये व्यभिचार करना, भगवान्की पूजाके लिये द्वेषपूर्वक हिंसा करना, वैर और क्रोधके द्वारा धर्मकी रक्षा करना, दम्भ करके भगवान्को प्रसन्न करना और आत्महत्या करके भगवान्को पा लेना आदि कुछ ऐसी बातें हैं, जो किसी विशेष परिस्थितिमें विशेष

व्यक्तियोंद्वारा हुई हों, पर वे अपवाद हैं, नियम कदापि नहीं है। नियम तो यही है कि साधन उत्तम होगा, तभी साध्य उत्तम होगा।

फिर जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे तो श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ उद्देश्यकी सिद्धिके लिये भी नीच कर्मको कदापि स्वीकार नहीं करेंगे। भगवान्‌से मिलना अवश्य है, भगवत्प्रेम अवश्य चाहिये, पर वह चाहिये भगवान्‌के अनुकूल परम श्रेष्ठ शास्त्रीय साधनोंके द्वारा ही। निषिद्ध कर्मके द्वारा कहीं भगवान् या भगवत्प्रेम मिलता भी हो तो श्रेष्ठ पुरुष उसे स्वीकार नहीं कर सकते। इसीलिये प्रेमी भक्त अपने भगवान्‌से यहाँतक कह दिया करते हैं कि 'भगवन्! हमें तो तुम्हारा भजन प्यारा है। यदि तुम्हारी प्राप्ति हो जानेपर तुम्हारा भजन छूटता हो तो हम ऐसी प्राप्ति नहीं चाहते। हमें चाहे जहाँ, चाहे जैसी परिस्थितिमें रहना पड़े, पर तुम्हारा प्रेमपूरित भजन कभी न छूटे। हमें सुगति, सुमति, सम्पत्ति, ऋद्धि-सिद्धि और विशाल कीर्ति नहीं चाहिये। हमारा तो बस, तुम्हारे युगलचरणकमलोंमें नित नया अनुराग ही बढ़ता रहे'—

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतुरहित अनुराग रामपद बढ़ु अनुदिन अधिकाई॥

(विनयपत्रिका)

गोस्वामीजीने दोहावलीमें कह दिया है कि 'मुझे नरकमें रहना स्वीकार है, यदि राम-प्रेमका फल अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष हो तो इन चारों पुरुषार्थ-शिशुओंको मौत डाकिनी खा जाय। मुझे तो केवल 'रामप्रेम' चाहिये। यदि रामप्रेमका और कोई फल भी होता हो तो उसमें आग लग जाय'—

परौं नरक फल चारि सिसु मीच डाकिनी खाउ।
'तुलसी' राम-सनेहको जो फल सो जरि जाउ॥

═★═

जगत् पतन तथा दुःखकी ओर जा रहा है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिल गया। विलम्बसे उत्तर जा रहा है, क्षमा करें। मनुष्य जो यह चाहता है कि 'पहले प्रतिपक्षी मेरे साथ अच्छा बर्ताव करेगा, तब मैं उसके साथ अच्छा बर्ताव करूँगा।' यह उसकी भूल है; क्योंकि जैसा वह चाहता है, वैसा ही उसका प्रतिपक्षी भी चाहता होगा। फिर अच्छाईकी पहल कौन करेगा ? बुद्धिमानी तो इसीमें है कि दूसरा बुरा करे, तब भी हम तो उसका भला ही करें। भलाईकी पहल करनेमें संकोच और लज्जा होना तो पाप-बुद्धिका ही परिचायक है। वस्तुतः कल्याणकामी पुरुषको कभी भी किसीके साथ असत् व्यवहार करना ही नहीं चाहिये। कोई मेरे साथ बुराई करता है, इसलिये बुराईको बुराई मानता और कहता हुआ भी अभिमानवश मैं भी उसके प्रति बुराई करूँ; दूसरा जहर खाता है तो मैं भी खाऊँ—यह कोई समझदारीकी बात नहीं है। भला मनुष्य अपनी भलाईको कैसे छोड़े ? वह अपने स्वभावसे क्यों च्युत हो ? असलमें अपना स्वार्थ भी भलाई करनेमें ही है। प्रत्येक मनुष्यके लिये यही बात है। फिर जो परमार्थके साधक हैं, उनको तो संतोंका आदर्श ग्रहण करना चाहिये। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीशंकरजीके वचन हैं—

'उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥'

'संतकी यही महिमा है कि वह बुराई करनेपर भी उसके साथ भलाई करता है।' फिर उन्होंने चन्दनकी उपमा देकर समझाया है—जो कुठार चन्दनको काटता है, चन्दन उस कुठारकी लकड़ीकी मूठमें अपना गुण सुगन्धि भर देता है—

'काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥'

इसलिये बुराई करनेवालेके साथ भलाई ही करनी चाहिये और सात्त्विक साहसके साथ उसकी पहल भी अपनी ओरसे ही होनी चाहिये। इसमें जरा भी संकोच या अपमानका बोध नहीं होना चाहिये। इस अपमानका यदि पुरस्कार प्राप्त करना हो तो भगवान्‌के यहाँसे बड़ा सुन्दर पुरस्कार भी मिल सकता है।

आपने लिखा कि 'विकासवादके सिद्धान्तके अनुसार उत्तरोत्तर उन्नति होनी चाहिये और भौतिक उन्नति हो भी रही है। पर लोगोंके मनोंमें पाप-भावना बढ़ती जा रही है तो क्या भौतिक उन्नतिको ही उन्नति मानना चाहिये और यदि ऐसा नहीं है तो इसका क्या परिणाम होगा?'

इसका उत्तर यह है कि मेरी समझसे तो यह विकासवादका सिद्धान्त ही सर्वथा भ्रमपूर्ण है। कुछ ही सहस्र वर्ष पूर्व जंगलोंमें रहनेवाली असभ्य जातिके लोग वर्तमान भौतिक उन्नतिको देखकर ऐसा कहें तो वे कह सकते हैं; परंतु भारतवर्षकी अत्यन्त प्राचीन संस्कृतिकी सत्ता और महत्ताको जाननेवाले लोग ऐसा कभी नहीं मान सकते। हमारा तो यह सिद्धान्त है कि अच्छा-बुरा समय चक्रवत् आता-जाता रहता है। सत्ययुगके बाद क्रमशः कलियुग आता है और कलियुगके बाद पुनः सत्ययुग। इस समय कलियुगके प्रारम्भका संधिकाल चल रहा है। अतएव इस समय जगत्‌की गति वस्तुतः उन्नतिकी ओर नहीं, पर अवनतिकी ओर है। उन्नति-अवनतिकी कसौटी चमत्कारपूर्ण भौतिक साधनोंका आविष्कार नहीं है। उसकी सच्ची कसौटी है समष्टिके मनकी उच्चतम सात्त्विक स्थिति। यदि समष्टिमें गीतोक्त दैवी सम्पत्ति बढ़ रही है तो समझना चाहिये उन्नति हो रही है और आसुरी सम्पत्ति बढ़ रही है तो अवनति हो रही है। भौतिक उन्नतिसे न इसका विरोध है, न मेल।

बड़ी-सी-बड़ी भौतिक सम्पत्तिके साथ भी दैवी सम्पत्ति रह सकती है और भौतिक सम्पत्तिके सर्वथा अभावमें भी आसुरी सम्पत्ति आ सकती है। हमारे प्राचीन युगोंमें भौतिक सम्पत्तिकी पूर्ण प्रचुरता थी; परंतु उसका प्रयोग होता था सात्त्विकभावापन्न पुरुषोंकी सुबुद्धिके द्वारा वास्तविक जनकल्याणकारी कार्योंमें। आजकी भौतिक सम्पत्ति ऐसी नहीं है। अणुशक्तिका आविष्कार भौतिक उन्नतिका एक अद्भुत उदाहरण है, परंतु मनुष्यकी राक्षसी और आसुरी बुद्धिके कारण उसका प्रथम प्रयोग होता है—क्रूरतापूर्ण विपुल जनसंहारमें! आज भी बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंके मस्तिष्क आसुरी बुद्धिकी प्रेरणासे इसी नर-संहारके अनुसंधानमें लगे हैं और इसमें बड़े गर्वका अनुभव कर रहे हैं। आसुरी सम्पत्तिका अवश्यम्भावी परिणाम श्रीभगवान् बतलाते हैं—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। १६,१९-२०)

'वे अनेक प्रकारकी कामनाओंसे भ्रमितचित्त हुए, मोहजालमें फँसे हुए और विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति रखनेवाले लोग अपवित्र नरकोंमें गिरते हैं।·····उन द्वेष-हृदय, क्रूरकर्मा, पापपरायण नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें गिराता हूँ। अर्जुन! वे मूढ़ मनुष्य (मानव-जीवनके चरम और परम फलरूप) मुझ

भगवान्‌को न पाकर कई जन्मोंतक लगातार आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं और फिर उससे भी अधिक बहुत नीची अधम गतिको जाते हैं—नरकाग्निमें पचते हैं।'

इससे यह सहज ही सिद्ध है कि जिस अनुपातसे आसुरी सम्पत्ति बढ़ रही है, उसी अनुपातसे दुःख भी बढ़ेगा। किसी विषयके विचार पहले मनमें आते हैं, फिर वाणीमें और तदनन्तर वैसा कार्य होता है, एवं तब उसीके अनुसार फल होता है। आज जगत्‌के अधिकांश लोगोंके मनोंमें दम्भ, दर्प, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, प्रतिहिंसा, मान, अभिमान, ईर्षा और असूया आदिके कुत्सित विचार बड़ी तेजीसे बढ़ रहे हैं और तदनुसार चोरी, असत्य, लूट, हिंसा, व्यभिचार आदि असत् कार्योंकी मात्रा भी बढ़ रही है। इसी अनुपातसे बीजफल-न्यायके अनुसार इनका भयानक परिणाम भी अवश्य होगा। यहाँ भी दुःख बढ़ेंगे और परलोकमें भी दुःखोंकी ज्वाला अधिक धधकेगी। भीषण दुःखोंकी आगमें जलनेके बाद सम्भव है, कलियुगकी महादशामें भी कुछ समयके लिये सत्ययुग-त्रेताका प्रत्यन्तर आवे। पर उसके पहले एक बार तो भीषण पतन और दुःखोंका आना अनिवार्य-सा प्रतीत होता है!

★

पुराणोंकी नागजाति

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। नागजातिके सम्बन्धमें आपकी ही भाँति अन्य भी अनेकों लोग शङ्का किया करते हैं। आजका युग ही शङ्काका है। मनुष्य इतना अविश्वासी और अभिमानी हो गया है कि वह किसी भी शास्त्रकी बातपर विश्वास नहीं करना चाहता और अभिमानवश अपनी अत्यन्त सीमित बुद्धिके तराजूपर तौल-तौलकर सभीको मिथ्या सिद्ध करना चाहता है। नागोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें पुराणोंमें जो वर्णन आया है, उसे ध्यानपूर्वक पढ़ लेनेके बाद शङ्काके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। महर्षि कश्यप नागोंके पिता हैं और कद्रू उनकी आदिमाता हैं। विविध प्राणियोंकी सृष्टिके लिये ही विधाताने इनको उत्पन्न किया था और इसलिये इनके मनमें भी वैसे ही संकल्प उठते थे। कद्रूने अपने स्वामीसे नागोंको ही पुत्ररूपमें प्राप्त करनेका वरदान माँगा था। उनके संकल्पके अनुसार सत्यसंकल्प प्रजापति कश्यपजीने स्वयं भी ऐसा ही संकल्प किया और उस संकल्पके अनुरूप ही संतान उत्पन्न हुई। सर्प, पक्षी आदि जीव भी परमात्माके ही उत्पन्न किये हुए हैं; परंतु परमात्मा न सर्प हैं, न पक्षी। वे सब कुछ हैं और सबसे विलक्षण हैं। परमात्माने जैसा-जैसा संकल्प किया, वैसी-वैसी ही सृष्टि हुई। उन्हींकी कामनासे जगत् बना। **'सोऽकामयत'**। उन्हींकी संकल्प प्रजापतियोंमें प्रतिफलित हुआ। ऐसी स्थितिमें कद्रूसे नागोंका और विनतासे पक्षिराज गरुडका उत्पन्न होना असम्भव तो है ही नहीं, आश्चर्यकी बात भी नहीं है।

****

नागों और गरुडके माता-पिता परम तपस्वी, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, सर्व-भवन-समर्थ और सत्यसंकल्प थे। उनमें बड़ी शक्ति थी। ये ही गुण उनकी संतानमें आये। वे भी अपने इच्छानुरूप शरीर धारण कर सकते थे। उनकी बड़ी शक्ति थी। देवताओंकी अवतारभूता किष्किन्धाकी वानरजातिकी भाँति नाग भी मनुष्योचित व्यवहार करते थे। नागलोकके नागोंका जो वर्णन मिलता है, उससे पता लगता है कि नागलोग कुण्डल और किरीट पहनते थे, वीणा आदि वाद्य बजाते तथा मधुर गीत भी गाते थे। कम्बल एवं अश्वतर नामक नागोंको तो साक्षात् भगवती सरस्वतीने वरदान देकर संगीत-कुशल बनाया था। इन नागोंकी कन्याएँ देवाङ्गनाओंके सदृश परम सुन्दरी होती थीं। उनके शरीर दिव्य रूपसम्पन्न तथा अजर होते थे। इतनेपर नाग सर्परूपमें ही रहते थे; परंतु वह सर्पकी खाल वस्तुतः उनके लिये कवचका काम देती थी। वे जब मन करते तभी उसे समेटकर देवता और मनुष्यके रूपमें बदल जाते थे। जल, स्थल, वायु और आकाशमें सर्वत्र उनकी अबाध गति थी। अर्जुनका ऐसी ही नागजातिकी कन्या उलूपीके साथ विवाह हुआ था। महर्षि जरत्कारुकी पत्नी जरत्कारु और राजा पुरुकुत्सकी पत्नी नर्मदा भी ऐसी नागकन्याएँ ही थीं। भगवान् श्रीकृष्णके कालियदमनके समय कालियकी पत्नियोंने मनुष्यरूपमें भगवान्‌की स्तुति की थीं, यह श्रीमद्भागवतमें प्रसिद्ध है। यह नागजाति दिव्य शक्तिसम्पन्न थी। इन नागोंमें और देवताओंमें शक्तिकी दृष्टिसे कोई विशेष अन्तर नहीं है। केवल योनिका भेद है। दोनोंके पिता एक ही हैं। जो इस रहस्यको जानते हैं, वे कभी इसे न तो अप्राकृत मानते हैं और न असम्भव ही। जिन परमात्माके संकल्पसे प्रकृति निरन्तर आश्चर्यमयी लीला करती रहती है, उनकी इच्छासे क्या नहीं हो सकता।

———★———

नहीं लगकर उन्हींको लगेगा और उनकी महान् दुर्गतिका कारण होगा। जो भोली बहिन इनके जालमें फँसी है, उसको भी सावधान होना चाहिये। इस प्रकारका आचरण महान् पाप तो है ही, यह नारी-जातिके लिये बड़ा कलङ्क है। एक बहिन घरमें बैठी रोती-कलपती रहे और दूसरी वहीं उसके पतिको दुराचारका आश्रय देनेवाली बने! पुरुष-जाति तो गिर ही गयी है, पर भारतकी नारियोंका भी इस प्रकार पतन हो रहा है। बड़े ही दुःखकी बात है।

—★—

भगवान्‌का दिव्यरूप

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, धन्यवाद। उत्तरमें निवेदन है कि गोस्वामीजीने—

'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥'

(मानस १।२४७।२)

—इस पद्यमें जिस मोहकी बात लिखी है, इसमें और **'मोह न नारि नारि के रूपा** । (मानस ७।१४१।१)' वाले मोहमें बहुत अन्तर है। 'स्त्री स्त्रीके रूपपर मोहित नहीं होती।' तात्पर्य यह है कि वह पुरुषके रूपपर मोहित होती है और पुरुष स्त्रीके रूपपर मोहित होता है। यही उनके लिये स्वाभाविक है। इन पङ्क्तियोंमें जो मोह है वह काममूलक या वासनामूलक है। विषयासक्तिसे प्रेरित होकर स्त्री पुरुषपर और पुरुष स्त्रीपर मोहित होते हैं। यह बहुत ही घृणित एवं निकृष्ट मोह है। ऐसे मोहके लिये ऐसा कहना सर्वथा उपयुक्त ही है कि **'मोह न नारि नारि के रूपा।'**

परंतु जनकनन्दिनीजीके रङ्गभूमिमें पधारनेपर जो समस्त नर-नारी मोहित हो गये, उनका मोह और ही प्रकारका था। वह मोह नहीं, अनिर्वचनीय आनन्दका उन्माद था। भगवती सीता भगवान् श्रीरामकी आह्लादिनी शक्ति हैं। वे दोनों अभिन्नस्वरूप हैं। ये ही समस्त जड-चेतनके आत्मा हैं, अतएव वे सबके परम प्रेमास्पद हैं। संसारकी जितनी सुखद वस्तुएँ हैं, वे सब अपने आत्माको प्रिय लगनेके कारण सुखदायिनी मानी जाती हैं। स्त्री, पुत्र, धन, यह शरीर और प्राण भी स्वतः प्रिय नहीं हैं; आत्माके लिये ही ये प्रिय माने गये हैं।

अतः अधिक प्रिय एवं सुखस्वरूप आत्मा है। आत्माकी ओर सबका स्वाभाविक आकर्षण है। सबके आत्मा हैं—भगवान् श्रीराम और सीता; अतः उनकी ओर प्राणिमात्रका स्वाभाविक आकर्षण है। वे ही जब लोकोत्तर लावण्य, माधुर्य एवं आनन्दके पुञ्जीभूत चिन्मय दिव्यविग्रह धारण करके नेत्रोंके सामने प्रकट हों, तब उनकी अनुपम रूप-माधुरीका पान करके प्राणिमात्रका अलौकिक आनन्दमें निमग्न हो जाना क्या आश्चर्यकी बात है। इस आनन्दोन्मादको ही वहाँ 'मोह' कहा गया है। ऐसा मोह बड़े भाग्यसे प्राप्त होता है। यही मोह या आनन्दोन्माद श्रीरामकी दिव्य छबि देखकर जनकपुरके नर-नारियोंको भी हुआ था।

भगवान् और उनकी चिन्मयी शक्तिके लोकोत्तर सौन्दर्य-माधुर्यमय दिव्य-विग्रहका गुण ही ऐसा है, जिसकी ओर समस्त नर-नारियोंका ही नहीं, बड़े-बड़े आत्माराम मुनियोंका मन भी हठात् आकृष्ट हो जाता है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(भागवत १।७।१०)

उन्हें देखते ही प्राणिमात्र प्रेमविह्वल हो जाते हैं। सनकादि मुनीश्वरोंने एक बार भगवान् श्रीहरिकी झाँकी की और उनके प्राण प्रेमजनित आनन्दसे उन्मत्त हो उठे।

श्रीमद्भागवतमें आया है—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।

अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥

(३ । १५ । ४३)

'कमलनयन भगवान्‌के चरणारविन्दोंपर विराजमान तुलसीमञ्जरीके सौरभ और मकरन्दको लेकर जो हवा चली, वह नासिकारन्ध्रसे उन सनकादिके भीतर प्रवेश कर गयी। यद्यपि वे निर्गुण-निराकार अक्षरतत्त्वके चिन्तन करनेवाले वीतराग महात्मा थे, तो भी उस दिव्य वायुने उनके मन और शरीरको क्षुब्ध कर दिया। वे उन्मत्त हो गये।'

भगवान् श्रीराम-लक्ष्मणकी रूप-छटाको देखकर स्वयं विदेहराज मोहित हो गये थे—

सहज बिराग रूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा ॥

(मानस १ । २१५ । १-१/२, २-१/२)

ऐसे मोहका सौभाग्य विरले भाग्यवानोंको ही प्राप्त होता है।

'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी ॥'

—में बताये अनुसार समस्त नर-नारी इसी प्रकार मोहित—आनन्दनिमग्न हुए थे।

२—तुलसीकृत रामायण तथा वाल्मीकीय रामायणके कुछ प्रसङ्गोंमें कुछ मतभेद आपने दिखाये, सो ठीक है। इनके सिवा और भी बहुत-से रामायण हैं तथा उन सबमें भी कुछ-न-कुछ अन्तर मिलता है। इसके कई कारण हैं। कुछ तो लेखक भिन्न-भिन्न होनेसे ही भेद दिखायी पड़ता है। फिर '**हरि अनंत हरि कथा अनंता**'के अनुसार तो भगवान्‌की कथाको कोई '**इदमित्थम्**'रूपसे कह भी नहीं सकता।

दूसरा समाधान कल्पभेदसे किया जाता है। सृष्टिके अबतक असंख्य कल्प बीत गये। सब कल्पोंमें श्रीरामके अवतार होते हैं। भिन्न-भिन्न ऋषियोंने समाधिके द्वारा या भगवत्कृपासे भिन्न-भिन्न कल्पोंकी कथाको साक्षात्कार करके लिखा है; अतः कल्पभेदसे उनमें कुछ अन्तर होना स्वाभाविक ही है।

३—यह ठीक है कि आजकल भारतवर्षमें बड़ी दुर्दशा है, भगवान्‌को अवतार लेना चाहिये; परंतु अवतार तब होता है, जब मनुष्यके लिये भगवान्‌के सिवा और कोई भरोसा नहीं रह जाता, जब सब लोग आर्तभावसे भगवान्‌को पुकारते हैं। आज तो भगवान्‌की आवश्यकता ही नहीं मानी जाती; लोगोंको अपने वैज्ञानिक बलपर गर्व है, अपने बुद्धिकौशलका अभिमान है; अतः भगवान्‌को पुकारनेकी आवश्यकता नहीं समझी जाती। ऐसी दशामें भगवान् भी चुपचाप देखते हैं। अभिमान और भगवान् एक साथ नहीं रहते। यदि हम चाहते हैं कि भगवान् प्रकट हों तो हम सबको एक स्वरसे व्याकुलतापूर्वक भगवान्‌को पुकारना चाहिये। जो भगवान्‌के लिये एक कदम चलता है, भगवान् उसके लिये सौ कदम आगे बढ़ते हैं। यदि स्वेच्छासे ही भगवान्‌को अवतार लेना है, हमको-आपको आवश्यकता नहीं है, तब भगवान् जब उपयुक्त अवसर समझेंगे, तब प्रकट होंगे। अभी तो हमें अपने दुःखमय प्रारब्धका भोग करना ही बदा जान पड़ता है। शेष भगवत्कृपा।

——★——

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद। आपके प्रश्नोंपर विचार यों हैं—

(१) यह ठीक है कि भगवान् सर्वज्ञ हैं। यह भी सत्य है कि वे भविष्यमें होनेवाली सभी बातोंको जानते हैं; अतः जो भी उनके ज्ञान या निश्चयमें है, वही होगा। तथापि मनुष्यको शुभ कर्म करना चाहिये और अशुभसे बचना चाहिये। जो भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे ही शास्त्रद्वारा मनुष्यको यह प्रेरणा देते हैं कि वह सत्कर्म करे और पापसे बचे। इससे सिद्ध है कि मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार कर्म करनेमें स्वतन्त्र है और यह स्वतन्त्रता सर्वज्ञ ईश्वरकी दृष्टिमें पहलेसे ही मौजूद है। अतः इस विधि-निषेधको मानते हुए मनुष्य जो कुछ कर रहा है या करेगा, वह सब ईश्वरके द्वारा अनुमोदित है। शास्त्र ईश्वरीय आदेश है; उसके पालनसे ईश्वर प्रसन्न होते हैं और शास्त्रके विपरीत चलनेसे मनुष्य दण्डका भागी होता है। इसके अनुसार पुरस्कार और दण्डकी प्राप्ति भी सर्वज्ञ ईश्वरकी दृष्टिमें है; अतः मनुष्यको शास्त्राज्ञा-पालनमें सतत सावधान रहना चाहिये। मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, यह बात सर्वज्ञ ईश्वरद्वारा अनुमोदित है ही। इसलिये वह जो कुछ भी करेगा, वही सर्वज्ञकी दृष्टिमें पहलेसे है—ऐसी बात मानी जा सकती है। सर्वज्ञने कब किससे क्या करवानेका निश्चय कर रखा है, यह बात किसीको भी ज्ञात नहीं है। अतः जो न्यायोचित कर्तव्य है, उसके लिये चेष्टा करना सभीको उचित है। मनुष्यका ऐसा स्वभाव बना दिया गया है कि वह कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता—

'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।'

(गीता ३। ५)

उसका स्वभाव उसे चुपचाप बैठने न देगा। भगवान्‌ने जो पहलेसे निश्चय कर रखा है, वही होगा और वह अपने-आप हो जायगा—यों विचारकर कोई भी हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रह सके, यह सम्भव नहीं है। उसकी प्रकृति उसे कर्ममें लगा देगी **(प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति)**।

—महाभारतमें कौरव-पाण्डव—उभय पक्षके जिन वीरोंकी मृत्यु नियत थी, उन सबका वह भावी परिणाम भगवान्‌ने अपने विराट्‌रूपमें पहले ही अर्जुनको दिखा दिया था। इसपर अर्जुन यह सोच सकते थे कि 'ये सब मरेंगे तो निश्चय ही, फिर मैं क्यों इनकी हत्याका कलङ्क लूँ।' पर उन्होंने अर्जुनको ऐसी बात सोचने नहीं दी। उन्हें यह प्रेरणा दी गयी—**'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'** 'अर्जुन! तू निमित्तमात्र हो जा।' इसी प्रकार शास्त्रीय विधि-निषेधके द्वारा भगवान् हम सबको निमित्तमात्र बना रहे हैं। अर्जुनको निमित्त बनना पड़ा। हमको भी भावीमें जो सुनिश्चित है, उसमें निमित्त बनना ही पड़ेगा। 'हम निमित्तमात्र ही हैं, वास्तवमें भगवान् स्वयं सब कुछ कर रहे हैं, करवा रहे हैं'—यह भावना दृढ़ रहे तो हमें उन कर्मोंका बन्धन भी नहीं लगेगा। मनुष्य बँधता है ममता और अहंकारके कारण, कर्म और उसके फलमें आसक्ति तथा कामनाके कारण। यदि ईश्वरप्रीत्यर्थ ही सब कुछ किया जाय अथवा अपनेको निमित्तमात्र मानकर अपने ऊपर कर्तृत्वका अभिमान न लादा जाय तो कोई भी कर्म मनुष्यको बाँध नहीं सकता। अतः सब कुछ सर्वज्ञ ईश्वरकी सुनिश्चित इच्छाके अनुसार होनेपर भी हम सबका यही कर्तव्य है कि हम भगवत्प्रीतिके उद्देश्यसे शास्त्रीय सत्कर्मोंके अनुष्ठानमें ही संलग्न रहें।

(२) यह ठीक है कि मरे हुए पिता-पितामह आदि जहाँ जिस योनिमें जन्म पाते हैं, वहाँ उन्हें कर्मानुसार अन्न-पान आदि तो प्राप्त होता ही है; फिर भी पुत्र-पौत्रादिका कर्तव्य है कि उनके लिये श्राद्ध करें। श्राद्धमें दी हुई वस्तु उन पितरोंको, जहाँ जिस योनिमें भी वे रहते हैं, योग्यतानुसार प्राप्त होती है और उन्हें तृप्त करती है। श्राद्धके तीन देवता हैं, जो नित्य एवं सर्वव्यापी हैं। उनके नाम हैं—वसु, रुद्र और आदित्य। वसु पिताके स्वरूप हैं, रुद्र पितामहके प्रतिनिधि हैं और आदित्य प्रपितामहके प्रतीक हैं। श्राद्धमें जब पितरोंका आवाहन होता है, तब जो आ सकते हैं, वे पितर भी आते हैं, नहीं तो ये ही लोग उपस्थित होते हैं; ये पुत्रादिद्वारा अर्पित किये हुए सत्कार, मान, पूजा, श्राद्धान्न आदि सब स्वयं ही ग्रहण करते हैं और वह सब ले जाकर मनुष्यके पितरोंके पास पहुँचा देते हैं। वे अपने ज्ञान और शक्तिसे भलीभाँति जानते हैं कि किसके पिता-पितामह आदि कहाँ किस रूपमें उत्पन्न हुए हैं; अतः उनके पास वे अनायास पहुँच जाते हैं और वह श्राद्धीय वस्तु उनको अर्पित करते हैं। यदि वे पितर मनुष्येतर स्थूल योनिमें या स्वर्ग-नरकादिके देव या पितृ-शरीरमें हैं तो वहाँके शरीरके अनुरूप खाद्य प्रस्तुत करके ये उन्हें तृप्त करते हैं। इस प्रकार श्राद्धद्वारा तृप्त किये हुए वसु आदि देवता मनुष्यके पितरोंको तो पूर्ण तृप्त करते ही हैं, श्राद्धकर्ताको भी उसके भाव तथा श्रद्धाके अनुसार आयु, संतान, धन, विद्या, सुख, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष आदिकी प्राप्ति कराते हैं। ऊपर जो कुछ कहा गया, इसका समर्थन याज्ञवल्क्य-स्मृतिके निम्नाङ्कित वचनोंसे होता है—

वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄञ् श्राद्धेन तर्पिताः॥

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः॥

(याज्ञ० आचाराध्याय २६९-२७०)

आपने श्राद्धके विषयमें वैदिक मन्त्रके उल्लेखका भी अनुरोध किया है। श्राद्धविषयक वैदिक मन्त्र अनेक हैं। यहाँ स्थानाभावके कारण केवल एक मन्त्र दिया जाता है—

आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥

(यजुर्वेद १९।५८)

'हमारे सोमपानके अधिकारी 'अग्निष्वात्त' पितर देवयानमार्गसे आयें और इस यज्ञमें स्वधा (श्राद्धान्न) से परितृप्त होकर हमारी वचनद्वारा वृद्धि दें एवं रक्षा करें।'

(३) गीतामें भगवान्ने कहा है—

'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥'

(१७।३)

'पुरुष श्रद्धामय होता है; जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है।' इसके अनुसार सात्त्विक श्रद्धासे सम्पन्न पुरुष सात्त्विक होता है। अतएव उसकी ऊर्ध्वगति हो सकती है; क्योंकि **'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः'** यह गीताका सिद्धान्त है। इसी प्रकार तामसी श्रद्धावाला मनुष्य तमोगुणी होनेके कारण अधःपतनको प्राप्त हो सकता है। यहाँ मनुष्यके स्वभावगत श्रद्धाकी बात कही गयी। जहाँ श्रद्धारहित कर्मको निष्फल बताया गया है **(न च तत्प्रेत्य नो इह)** गीता १७।२८ वहाँ उत्तम श्रद्धाका क्रियाके साथ योग न रहनेपर वह कर्म निष्फल होता है ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये। सात्त्विक श्रद्धाका योग न

होनेपर कर्म निरर्थक हो जाता है। यदि राजसी या तामसी श्रद्धाका योग हो जाय, तब तो राजस-तामस भावके अनुसार फल अवश्य होगा। हवन, दान, यज्ञ, तप, जप आदि कर्म सात्त्विक श्रद्धासे ही किये जाने चाहिये। तामसी श्रद्धावालेकी तो इसमें प्रायः प्रवृत्ति ही नहीं होगी। हुई भी तो विधिका पालन न हो सकेगा। आप कहते हैं, श्रद्धारहित कर्म हो ही नहीं सकता। किंतु जगत्में श्रद्धारहित कर्म भी होता देखा जाता है। कोई किसी दबाव या संकोचके कारण भी सत्कर्म करता है। भीतरसे उस कर्ममें उसकी रुचि या श्रद्धा नहीं होती। यही अश्रद्धाकृत कर्म है। छान्दोग्योपनिषद्की श्रुतिमें भी श्रद्धाकृत कर्मकी ही श्रेष्ठता बतायी गयी है। इससे और गीताके वचनसे कोई विरोध नहीं है। शेष भगवत्कृपा।

——★——

खर्च घटानेका उपाय—सादगी

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आजकल हमलोगोंके खर्च बहुत बढ़ गये हैं—यह सत्य है। इसका कारण महँगी तो है ही, साथ ही हमारी रहन-सहनकी खर्चीली पद्धति भी है। रहन-सहनका स्टैंडर्ड (स्तर) ऊँचा करनेकी चर्चा इधर बहुत जोरोंसे चल रही थी। इस स्तरकी उच्चताने इतना अधिक व्यर्थ खर्च बढ़ा दिया है कि जिसकी पूर्ति अब बहुत कठिन हो गयी है। अभाव जितना बढ़ाइये, उतना ही बढ़ता रहेगा। कामनाका अन्त कहाँ है। और जितनी ही कामना बढ़ेगी, उतना ही अनाचार, भ्रष्टाचार और पाप बढ़ेगा—यह प्रत्यक्ष है। भगवान्ने गीतामें भी इस कामनाको ही महाशन (भोगोंसे कभी तृप्त न होनेवाला), महापापी और मनुष्यका शत्रु बतलाया है। '**महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।**' (३। ३७) और पापका फल दुःख होगा ही। एक युग था, जब यहाँके निवासी कहते थे—

स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात् पातकं महत्॥

'वनमें उत्पन्न होनेवाले शाक आदिके द्वारा ही जब पेट भर जाता है, तब इस पेटके लिये कोई महान् पाप क्यों करेंगे।' आज यह सपनेकी-सी बात हो गयी है।

आज तो हमारा पेट इतना बढ़ गया है कि वह किसी भी हालतमें भरता ही नहीं। कामनाकी भूखका क्या ठिकाना। इसीसे आज प्रत्येक व्यक्ति अर्थ और अधिकारके पीछे पागल है।

खान-पानमें अपनी देशप्रथाके अनुसार पहले जो कुछ होता था,

उसमें एक संयम था। अब देशके बड़े-बड़े अग्रणी पुरुष भी अंग्रेजी पढ़-लिखकर ब्रेक-फास्ट (प्रातःकालीन भोजन), लंच (मध्याह्नकालीन भोजन), टिफिन (मध्याह्नोत्तर जलपान), डिनर (रात्रिभोजन) करते हैं। इसके सिवा बेड् टी (बिस्तरकी चाय) से लेकर रात्रितक कई बार बिस्कुटसहित चाय अलग ली जाती है। फल और सूखा मेवा अलग। अब बतलाइये, भोजनखर्च क्यों न बढ़े।

गाँवोंमें पहले लोग धोती पहनते और बदनपर एक गमछा या चादर डाल लैते थे। धूप, वर्षा, सर्दी आदि सहनेका इसीसे उनको अभ्यास था और इसीसे वे प्रायः नीरोग भी रहते थे। अब ग्रामवासी लोग भी पढ़-लिखकर वेष-भूषा सजाने लगे। गर्मीकी मौसममें भी पैरोंमें मोजे, पतलून या चूड़ीदार पाजामा, बदनपर तीन-चार कपड़े, कोट, लम्बी शेरवानी आदि आ गये हैं। इन कपड़ोंकी सिलाईमें सैकड़ों रुपये खर्च हो जाते हैं। बच्चोंको यूरोपियन ढंगकी घघरी, फ्राक, कोट आदि पहनाये जाते हैं। स्त्रियोंके फैशनका तो कोई ठिकाना ही नहीं। तब बताइये, खर्च कैसे नहीं बढ़ेगा। खर्च तो तब घटेगा, जब इतनी वस्तुओंका व्यवहार नहीं किया जायगा और इसके लिये—जिनकी साधारण लोग नकल करते हैं, उन बड़े लोगों, नेताओं, सरकारी अफसरों आदिका सादे भोजन और सादे पोशाकवाले होना आवश्यक है।

मुसल्मानी जमानेमें पाजामा, अचकन, शेरवानी आदि हमारी पोशाकमें आये। अंग्रेजोंके सङ्गसे पतलून, क़ोट, हैट आदि आये; परंतु अब स्वराज्य मिलनेपर भी हमारा यह विदेशी मोह नहीं छूटा है—यह खेदकी बात है। महात्मा गाँधी लंदनमें बादशाहसे नंगे बदन, नंगे पैर, छोटी-सी धोती पहने, चादर ओढ़े मिले थे। यदि आज हमारी सरकार

****

यह घोषणा कर दे कि राष्ट्रीय पोशाक धोती और चद्दर है और यदि बड़े-बड़े मिनिस्टर, न्यायाधीश, जिलाधीश, विद्यालयों-महाविद्यालयोंके अधिपति, आचार्य, नेतागण, प्रमुख व्यापारीवर्ग इसी पोशाकमें अपने-अपने कार्यालयों, कचहरियों, विद्यालयों और दूकानोंपर उपस्थित होने लगें तो इनकी देखा-देखी बहुत शीघ्र जनता उसीके अनुसार धोती-चादरका व्यवहार करने लगे। कपड़ेका खर्च अपने-आप कम हो जाय। यह सच है कि मनुष्योंकी संख्या बढ़ी है; परंतु साथ ही उत्पादन भी तो बढ़ा है। ज्यादा अभाव तो हुआ है कल्पित अभावोंको बढ़ा लेनेसे—उच्च स्तरके जीवनके नामपर अधिकाधिक वस्तुओंके व्यवहार और संग्रहसे।

पहले धार्मिक भावनासे नर-नारी व्रत-उपवासादि करते थे। उससे भी बहुत अन्न बच जाता था। साथ ही संयम तथा इन्द्रियनिग्रहका पाठ भी सीखते थे। अब तो धर्मका नाम लेना भी अपराध-सा हो चला है। खर्च घटाना चाहते हैं, पर जीवनको निरङ्कुश, उच्छृङ्खल, वासनाओंका दास, विलासी और कल्पित अभावोंसे पूर्ण बना रहे हैं। विवाह आदिमें विभिन्न प्रकारके आडम्बर बढ़ रहे हैं। तब खर्च घटेगा कैसे। और खर्च न घटनेपर चोरी, डकैती, घूसखोरी, चोरबाजारी होगी ही। इन दोषोंको दूर करनेके लिये सर्वप्रथम तो आवश्यक है—ईश्वर, परलोक तथा धर्ममें विश्वास। जब एकान्तमें भी मनुष्य चोरी करना, दूसरेका पैसा लेना अधर्म समझेगा, तब आजकी तरह उसकी केवल कानूनके पंजेसे बचकर पाप करनेकी प्रवृत्ति नहीं होगी। तभी ये अनर्थ बंद होंगे। साथ ही कल्पित अभावों तथा उच्च स्तरके (खर्चीले) जीवनसे भी अपनेको दूर रखना पड़ेगा। कामोपभोगपरायण मनुष्य तो अन्यायसे अर्थसंचय करेगा ही। जीवनमें जितने ही अभाव कम होंगे, जितनी ही

श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम-तत्त्व हैं

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। गीताके पुरुषोत्तम-तत्त्वके सम्बन्धमें पूछा, सो वस्तुतः इस तत्त्वका यथार्थ ज्ञान तो भगवान् व्यासको ही है, जिन्होंने इसका उल्लेख किया है। मैं तो अपने विचारकी बात लिख सकता हूँ और अपनी समझ तथा दृष्टिकोणसे मुझे इस मान्यतामें पूर्ण विश्वास है। मेरी समझसे गीताके श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं। ये ही समग्र ब्रह्म हैं। ये क्षरसे अतीत हैं, अक्षरसे उत्तम हैं और सर्वगुह्यतम परम तत्त्व हैं। ये ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं। इनमें एक ही साथ परस्परविरोधी धर्मोंका प्रकाश है। ये निर्गुण हैं और अचिन्त्यानन्त कल्याणगुणगणस्वरूप हैं; ये सर्वेन्द्रिय-विवर्जित हैं और सर्वेन्द्रिय-गुणाभास हैं। ये कर्तृत्वहीन हैं और सर्वकर्ता हैं; ये अजन्मा हैं और जन्म धारण करते हैं; ये सबसे परे हैं और सदा सबमें व्याप्त हैं; ये सर्वथा असङ्ग हैं और नित्य प्रेम-परवश हैं। ये ही अर्जुनके सखा हैं, सारथि हैं, गुरु हैं और भगवान् हैं। ये निर्गुण, निरञ्जन, निष्क्रिय, निष्कल, निरवद्य, अनिर्देश्य, अचल, कूटस्थ, अव्यक्त तत्त्व हैं और ये ही दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-सार-समुद्र, नित्य नटवर श्यामसुन्दर हैं एवं ये ही गति, भर्ता, भोक्ता, प्रभु, साक्षी, शरण, सुहृद्, माता, पिता, धाता, पितामह, उपद्रष्टा, अनुमन्ता, परमात्मा और महेश्वर हैं। गीतामें जहाँ-जहाँ **'अहम्, मम, मे, माम्, मत्तः, मया'** पद आये हैं, सब इन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके लिये ही आये हैं। यह श्रीकृष्णतत्त्व ही गीताका प्रतिपाद्य है और इसीकी शरणागतिका चरम उपदेश गीतामें दिया गया है। यही गीताकी सर्वगुह्यतम शिक्षा है।

——★——

दुष्कर्मसे दुर्गति

मान्या बहिन ! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके बहनोई 'कल्याण' के ग्राहक हैं, रामायण-भगवद्गीता पढ़ते हैं, घूसखोरीसे सदा दूर रहते हैं और अच्छे स्वभावके हैं; परंतु उनके चरित्रमें दोष है, दोष बतलानेपर वे उलटा डाँटते हैं तथा उसका औचित्य सिद्ध करते हैं। इससे आपकी बहिनको बहुत दुःख है और वह कभी-कभी शरीर-त्यागतककी बात सोचती है। इसके उत्तरमें निवेदन यह है कि आप अपनी बहिनको समझा दें कि वे आत्महत्याकी बात कभी न सोचें। आत्महत्या महापाप है। इससे दुःखोंका नाश नहीं होता, वरं दुःख और भी बढ़ जाते हैं। वे अपने पतिदेवकी बुद्धि सुधारनेके लिये भगवान्‌से कातर प्रार्थना करें। उनकी प्रार्थना जितनी ही विश्वासपूर्ण होगी, उतना ही उसका अच्छा फल देखनेमें आयेगा। मनुष्य जब कामादि विकारोंके वश हो जाता है, तब उसका ज्ञान ढक जाता है, बुद्धि विपरीत निर्णय देने लगती है। वह पापको पुण्य बताती है और पुण्यको पाप। यही हाल आपके बहनोईजीका है। वे यह जो कुछ कर रहे हैं, वह निस्संदेह प्रत्यक्ष पाप है। इसका परिणाम उनके लिये बहुत ही दुःखदायी हो सकता है। यदि वे मेरी बात मानें तो मैं उनसे यही कहूँगा कि वे शीघ्र-से-शीघ्र इस दुष्कर्मको छोड़ दें और अपनी साध्वी पत्नीको घोर मानसिक पीड़ासे बचा लें। इसीमें उनका कल्याण है। गीता-रामायणका उनको यही संदेश है और मैं भी उनसे बलपूर्वक यही अनुरोध करता हूँ। वे इस प्रकारका कुकार्य करके गीता-रामायणको भी कलङ्क लगा रहे हैं, जो वास्तवमें गीता-रामायणको

मान्यता है। वे कहते हैं—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥

(गीता १६। १३—१५)

'आज यह कमाया, कल वह कमाऊँगा। मेरे पास इतना धन तो हो गया है, फिर और भी हो जायगा। मेरे उस शत्रु (एक मार्गके रोड़े) को तो मारकर हटा दिया गया है, शेष दूसरोंको भी मार दूँगा। मैं सत्ताधीश हूँ, मैं भोगमें समर्थ हूँ, मैं सफलताओंका केन्द्र हूँ, मैं बलवान् हूँ और सुखी हूँ। मैं धनी हूँ, मैं जनवान् हूँ—जनता मेरे पीछे चलती है, मेरे समान दूसरा है कौन। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आनन्द लूटूँगा। (भगवान् कहते हैं—) वे इस प्रकारके अज्ञानसे विमोहित हैं।'

बुरेका फल अच्छा कभी हो नहीं सकता। श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—***'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'*** भगवच्चरणोंमें प्रेम ही साधन है और वही साध्य है। वस्तुतः साधनके स्वरूपपर ही साध्यका स्वरूप निर्भर करता है। इसलिये मनमें किसी भी साध्यकी कल्पना हो, साधकको तो पहले साधनकी श्रेष्ठता ही देखनी है। अतएव 'साध्य उत्तम हो तो साधन निकृष्ट होनेपर भी कोई हानि नहीं है'—ऐसा मानना भ्रमपूर्ण है।

धनके द्वारा लोक-सेवा और भगवत्सेवाकी भावना उत्तम है,

आवश्यकताएँ थोड़ी होंगी, उतना ही जीवन निष्पाप रहेगा और उतनी ही सुख-शान्ति भी रहेगी।

समाजसे इस पापको दूर करना है तो समाजके प्रमुख पुरुषोंको, शासनाधिकारियोंको और नेताओंको अपना जीवन बदलना पड़ेगा। तभी यह पाप मिटेगा। परोपदेशसे तथा कानूनी कड़ाईसे कुछ नहीं होगा। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(३।२१)

'श्रेष्ठ (समाजमें प्रमुख माना जानेवाला) व्यक्ति जो-जो आचरण करता है, साधारण लोग उसीका अनुकरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, जैसा आदर्श उपस्थित करता है, उसीके अनुसार लोग वर्तते हैं।'

श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहों

प्रिय महोदय! आपका पत्र मिला। दोष किसमें नहीं होते। मनुष्यको अपना दोष देखना चाहिये। इसीमें उसका लाभ है। आपने लिखा कि 'मैं बहुत बोलता हूँ और इसीसे कई बार अवाञ्छनीय घटनाएँ भी हो जाती हैं।……तथापि मेरा बोलना कम नहीं होता।' यह आपके अधिक बोलनेके अभ्यासका परिणाम है। पहलेसे वाणीमें संयम रहता तो ऐसा न होता। आपके बोलनेके फलस्वरूप कई बार अवाञ्छनीय घटनाएँ हो जाती हैं, जिनसे बड़ा संताप होता है तथापि आपका बोलना कम नहीं होता—यह बड़े दुःखकी बात है। इसके लिये आपको दृढ़ताके साथ अभ्यास बदलना होगा। इसके दो उपाय हैं—(१) नित्य कुछ समयके लिये नियमितरूपसे मौनावलम्बन, (२) भगवान्‌के नामका नियमित संख्यामें प्रतिदिन जप। जितनी देर मौन रहेगा और जितना समय भगवान्‌के नाम-जपमें देना पड़ेगा, उतने समय तो आपको बाध्य होकर बोलना बंद करना ही पड़ेगा। मेरी समझसे आप प्रतिदिन प्रातःकाल और रात्रिको घरमें रहनेके समय एक-एक घंटे मौन रहकर उस समय भगवद्गीता और रामायणका पारायण करें और प्रतिदिन जब कभी समय मिले—'हरे राम' के सोलह नामवाले मन्त्रकी चौदह मालाओंका जप करें। जप करते समय कोई बात नहीं करनी चाहिये। यह जप आप चाहे लगातार एक बारमें करें या सुविधानुसार ५,५ और ४ मालाके हिसाबसे तीन बारमें कर लें, परंतु जप करते समय बोलें नहीं। इससे आपको बहुत लाभ होगा।

पहले-पहले तो सम्भव है—नया अभ्यास होनेसे तथा बोलनेकी बड़ी आदत होनेसे चित्त कुछ ऊबेगा, परंतु आपने यदि दृढ़ताके साथ छः महीने भी इन दोनों नियमोंका पालन कर लिया तो आप अपनी आदतको बहुत कुछ बदली हुई पायेंगे। साथ ही भगवन्नाम-जपके तथा स्वाध्यायके प्रभावसे आपकी चित्त-वृत्तिमें भी आश्चर्यजनक अनपेक्षित सुधार हो सकता है। आप मन-ही-मन ऐसा निश्चय करते रहिये कि भगवान्‌की कृपासे मेरे अंदर सद्गुणोंका तथा सद्विचारोंका बड़े वेगसे संचार हो रहा है और दुर्गुण-दुर्विचारोंका नाश हो रहा है।

यों तो सभी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं और सदा मनको खींच-खींचकर विषयोंकी ओर ले जाती हैं, अतएव सभीको वशमें करना चाहिये, परंतु ज्ञानेन्द्रियोंमें कान और कर्मेन्द्रियोंमें जीभ तो स्वतन्त्र छोड़ देनेपर बहुत ही अनर्थ करती हैं। आँखें उन्हीं विषयोंका रस ले सकती हैं, जिनको वे स्वयं देखती हों; नासिका उन्हीं चीजोंकी सुगन्ध-दुर्गन्ध प्राप्त करती है, जिनका उसके साथ सम्पर्क होता हो; रसना उसी विषयका स्वाद चखती है, जो उसपर आ गया हो और त्वक् उसी मुलायम या कड़े पदार्थको पहचानती है, जिसका उसे स्पर्श प्राप्त हुआ हो; परंतु ये कान (कर्णेन्द्रिय) ऐसे हैं कि दूसरोंकी देखी, सुनी, सूँघी, स्पर्श की हुई तथा समझी-जानी हुई बातोंको दूसरोंकी जबानसे सुन-सुनकर उनको मनतक पहुँचाते हैं और फलतः मनमें नाना प्रकारके विकार उत्पन्न करनेमें कारण बनते हैं। इसी प्रकार यह जीभ सारी इन्द्रियोंके अनुभवोंको, दूसरोंको, दूसरोंके प्रवादों-विवादों तथा मिथ्या प्रलापोंको— परनिन्दा, परापवाद, चुगली आदिको अपनाकर कितनी झूठी, कड़ुवी, तीखी, विषैली, चुभती, सुलगती, जलती, कटती बातें कहती हैं कि जिनकी गणना नहीं हो सकती। न जानें यह कितने रसभरे हृदयोंको सुखा देती

है, कितने प्रशान्त चित्तोंमें अशान्तिकी आग भड़का देती है, कितने सुखियोंको रुला देती है, कितने सदाशयोंमें वैरकी ज्वाला उत्पन्न कर देती है, कितनोंको मर्माहत, शोक-संतप्त और पीड़ित कर देती है और कितनोंके जीवनको दुःख-क्लेशोंका घर बना देती है! इसीसे तुलसीदासजी महाराजने प्रतिज्ञा की—

'श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहों।'

'कानोंसे भगवच्चर्चाको छोड़कर दूसरी बात सुनूँगा नहीं और जीभसे दूसरी गाथा गाऊँगा नहीं—और कुछ बोलूँगा ही नहीं।'

इसलिये हम सभीको इन दोनों इन्द्रियोंको विशेष सावधानीसे संयमित करना चाहिये। जहाँतक बने—कानोंसे परचर्चा, परनिन्दा, परापवाद, आत्म-प्रशंसा नहीं सुनकर भगवद्गुणानुवाद, भगवान्‌की लीला-कथा, सत्-चर्चा आदि सुननी चाहिये और जीभको तो खासतौरपर वशमें करना चाहिये। कानकी अपेक्षा जीभपर अपना अधिकार भी अधिक है। जीभसे व्यर्थकी बात बोलनी ही नहीं चाहिये। या तो आवश्यक कामकी उतनी ही बात बोलनी चाहिये, जिसके बोले बिना काम न चलता हो, या रामकी बात— भगवच्चर्चा करनी चाहिये। निरन्तर भगवान्‌के नामका जप करनेकी आदत डालनी चाहिये। ऐसी धारणा करनी चाहिये कि जीभके द्वारा भगवान्‌के नामरूपी धनका संग्रह हो रहा है, जितनी देर दूसरी बात होगी, उतनी देर नाम नहीं लिया जायगा और उतनी देर यह परम धनकी कमाई बंद हो जायगी। जैसे लोभी मनुष्यको पैसेका नुकसान सहन नहीं होता, बड़ा दुःख होता है—वैसे ही नामधनका नुकसान सहन नहीं होना चाहिये। विशेष दूसरे पत्रमें। शेष भगवत्कृपा।

★

बार-बार जुलाब लेना ठीक नहीं।

(७) प्रतिदिन, घरमें जो बड़े हों, उन सबको प्रणाम करना चाहिये। बड़े-बूढ़ोंको नित्य प्रणाम करनेसे आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है।

(८) स्त्रीके साथ मित्रवत् आचरण करना चाहिये। न उसका गुलाम बनना चाहिये और न उसे गुलाम बनाना चाहिये। उसे अर्धाङ्गिनी मानना चाहिये और आदरके साथ उससे प्रेमका व्यवहार करना चाहिये।

(९) नित्य श्राद्ध न कर सकें तो माता-पिता आदिकी मरणतिथिपर तथा आश्विन कृष्णपक्षमें उनकी मरणतिथिके दिन तो श्राद्ध अवश्य करना चाहिये।

(१०) भगवन्नाम-जपमें कोई नियम नहीं है। बस, जप करना ही नियम है। श्रद्धा-प्रेम तथा निष्कामभाव हो तो सर्वोत्तम है। शेष भगवत्कृपा।

★

‘कल्याण’ और गीता

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला, धन्यवाद। आप ‘कल्याण’ को बराबर पढ़ते आ रहे हैं—यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। ‘कल्याण’ एक धार्मिक पत्र है। सनातनधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक बातका प्रचार ‘कल्याण’ द्वारा होता है। इसका प्रधान विषय अध्यात्म ही है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, निष्काम कर्मयोग, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, सदाचार, सतीधर्म, नारीधर्म आदि सभी विषयोंपर ‘कल्याण’ द्वारा प्रकाश डाला जाता है। हिंदूशास्त्रोंमें वेद, उपनिषद्, पुराण, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थोंका बहुत उच्च स्थान है; इन्हीं ग्रन्थोंमें हमारी संस्कृतिका परम दिव्य उज्ज्वल स्वरूप चित्रित है। अतः इन्हींके आधारपर ‘कल्याण’ में अधिकांश विचार प्रकट किये जाते हैं। इन सबमें भी गीताका स्थान महान् है। गीताके अनुसार जीवन बनानेसे मनुष्यका प्रत्येक व्यवहार आध्यात्मिक उन्नतिका—भगवत्पूजनका साधन बन जाता है। गीताने मुख्यतः दो निष्ठाओंका वर्णन करके उन्हें भक्तिके साथ संयुक्तकर ‘मणि-काञ्चन-योग’ उपस्थित किया है। ‘कल्याण’ किसी व्यक्तिके मतकी ओर आकृष्ट न होकर अपनी समझके अनुसार भगवान्‌के मतका प्रकाश करता है। ‘कल्याण’ गीताको कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों निष्ठाओंका प्रतिपादक मानता है। ‘कल्याण’ ने अबतक इसी नीतिसे गीताको देखने और समझनेका प्रयास किया है। ‘कल्याण’ किसी व्यक्ति या व्यक्तिगत सिद्धान्तका प्रचारक न होकर निष्पक्ष शास्त्रीय सिद्धान्तका ही प्रचार करना अपना ध्येय मानता है।

पर 'कल्याण' किसीपर किसी सिद्धान्तको लादना भी नहीं चाहता। जो अपने शुद्ध दृष्टिकोणसे गीतामें केवल 'संन्यास' का प्रतिपादन मानते हैं, वे वैसी बात मान सकते हैं और जो केवल 'निष्काम कर्मयोग' को ही गीताका मुख्य सिद्धान्त मानते हैं, वे भी अपने मतके लिये स्वतन्त्र हैं। 'कल्याण' अपनी बात कहता है, किसीका खण्डन नहीं करता। 'कल्याण' यह दावा भी नहीं करता कि गीताके सम्बन्धमें वह जो मानता है, वही ठीक है। गीता श्रीभगवान्‌की वाणी है, इसलिये वह सभीके लिये उपयोगी है। जो जैसा अधिकारी है, गीताका उसके लिये वैसा ही उपदेश है। रत्नोंका समुद्र है गीता—जिसकी जैसी डुबकी, उसको वैसा ही फल। शेष भगवत्कृपा।

—★—

मानव-शरीरका लाभ

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला, धन्यवाद। उत्तरमें निवेदन है कि अब तो आपको सब ओरसे मनको हटाकर उसे केवल भगवान्‌में ही लगाना चाहिये। आपकी आयु साठ वर्षसे ऊपर हो चुकी है। आजकलके जमानेमें पचास वर्षसे अधिक जीना तो घलुएका जीना है। भगवान्‌की बड़ी कृपा है, जो उन्होंने इस दुर्लभ मानव-शरीरमें इतने दिनोंतक रहनेका सुअवसर दिया। इस अवसरका पूरा लाभ उठाना चाहिये। इतनी बड़ी आयु पाकर भी मनुष्य यदि भगवान्‌के निष्काम और प्रेमयुक्त भजनसे अपने जन्म-जीवनको सार्थक न कर ले तो उससे बढ़कर भाग्यहीन और मूर्ख इस जगत्‌में दूसरा कौन हो सकता है।

यह सत्य है कि मन बहुत चञ्चल और दुर्धर्ष है; परंतु इस मनको भी वशमें किया जा सकता है। गौ नये खूँटेपर बँधनेमें पहले-पहले घबराती है; पर यदि कोई उसे बाँधे रखे और अच्छा खाने-पीनेको दे तो वह शीघ्र ही पुरानी जगहको भूलकर नयी जगहमें वैसे ही रम जाती है, जैसे पुरानी जगहमें रम रही थी। इसी प्रकार मन भी अभ्यास और वैराग्यसे वशमें किया जा सकता है। मन स्वभाववश जहाँ भी जाय, वहींसे हटाकर उसे भगवान्‌के चिन्तनमें लगानेका बार-बार प्रयत्न करे—यही 'अभ्यास' है। संसारके जितने भी नेह-नाते हैं, सभी क्षणभङ्गुर हैं, इस शरीरके साथ समाप्त हो जानेवाले हैं। (स्वार्थमें बाधा आनेपर पहले भी टूट जाते हैं।) ये सभी मोहमें डालनेवाले हैं। इसी प्रकार संसारके सभी विषय-भोग क्षणभङ्गुर, अनित्य और दुःखरूप

हैं। वे जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिके ही बन्धनमें डालते हैं। यह सोचकर उनकी ओरसे मुँह मोड़ लेना ही 'वैराग्य' है। सचमुच भगवान्‌के बिना जगत् सर्वथा दुःखालय है और भगवान्‌का नित्य संयोग परम सुखमय है। बार-बार मनको परमानन्दमय प्रभुके मधुर भजनमें लगाये और प्रभुसे रहित विषरूप विषयोंसे हटाये। यदि श्रद्धापूर्वक, बिना उकताये यह अभ्यास-वैराग्यका क्रम चलता रहेगा तो मन विषयोंसे हटकर सहज ही भगवान्‌में लग जायगा। भगवान्‌के भजनका स्वाद आनेपर तो यह फिर वहाँसे हटाये भी नहीं हटेगा।

ऐसा न हो सके—मन काबूमें न आता हो तो फिर सब साधनोंका आशा-भरोसा छोड़कर एकमात्र कृपासिन्धु भगवान्‌को आर्त होकर पुकारना चाहिये, भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेना चाहिये। भगवान् परम दयालु हैं, जीवमात्रके अकारण सुहृद् हैं। उनका नित्य-निर्भय आश्रय सदा सबके लिये खुला है। पापी-तापी, भला-बुरा—कोई भी, जो एकमात्र उनको ही अपना आश्रय मानकर विश्वासपूर्वक उन्हें पुकारता है—अपनी असमर्थताके लिये रो-रोकर उन्हें पुकारता है—भगवान् उसे अपना आश्रय देते हैं। जो उनकी ओर एक पग चलता है, भगवान् उसकी ओर अपनी चालसे चलकर तुरंत पहुँच जाते हैं। आप उनको पुकारिये। यह अमोघ उपाय है। आप भगवान्‌के—उनके नामके शरण हो जाइये। फिर आप भगवान्‌की परम सुखद गोदमें होंगे और वे अपना वरद कोमल कर-कमल आपके मस्तकपर फेरते होंगे। आप निहाल हो जायँगे। शेष भगवत्कृपा।

—★—

उपदेशक या गुरु कैसे हों ?

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंके उत्तरमें निम्नलिखित निवेदन है। उपदेशक, गुरु या वक्ता होना बड़े दायित्वका काम है। योग्य अधिकारी ही इन पदोंको सुशोभित कर सकते हैं। अधिकारी वे हैं, जिनमें ये पाँच बातें अवश्य हों—

(१) वे जिस सिद्धान्तका उपदेश करते हैं, वह सिद्धान्त सच्चा हो; शास्त्रानुकूल हो और लोककल्याणकारी हो।

(२) वे स्वयं उस सिद्धान्तको सिद्धान्तरूपसे मानते हों।

(३) उक्त सिद्धान्त उनके जीवनमें उतरा हो।

(४) उपदेश करनेमें केवल सुननेवालोंके कल्याणकी ही भावना हो, उन्हें रिझानेकी न हो।

(५) उपदेशके बदले पूजा, मान-सम्मान और धनादि भोगोंको प्राप्त करनेकी कामना न हो—

इनमेंसे एक-एकपर संक्षेपमें विचार कीजिये—

(१) उदाहरणके रूपमें 'भगवत्प्राप्तिके लिये सत्य, अहिंसा, शम, दम, सेवा, भक्ति, सदाचार आदि साधन करना—यह सिद्धान्त सच्चा भी है, शास्त्रीय भी है और प्रत्यक्ष ही लोक-कल्याणकारी भी है। पर यदि कोई कहे कि लोगोंको लूट-मारकर, उन्हें धोखा देकर, उनका अहित करके जगत्‌का हित करना है और इस सिद्धान्तको कोई सच्चा, शास्त्रीय और लोक-कल्याणकारी सिद्ध करना चाहे तो वह ठीक नहीं है। जिससे परिणाममें किसीका अहित होता हो, वह सिद्धान्त न सत्य है, न शास्त्रीय है और न लोक-कल्याणकारी है। सिद्धान्त वही सच्चा

कुछ कामकी बातें

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। उत्तर संक्षेपमें इस प्रकार है—

(१) आपने अबतक भगवान् विष्णुको अपना इष्टदेव माना है, तब इस समय इस विषयमें शङ्का क्यों करते हैं ? आप श्रीविष्णुको ही अपना इष्टदेव मानें। भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशंकर सब भगवान् श्रीविष्णुसे अभिन्न हैं। विष्णुभगवान्की आराधनासे सबकी आराधना हो जाती है।

(२) आप भगवान् श्रीविष्णुके चित्रकी जिस प्रकार पूजा करते हैं, वह ठीक है। भगवान्को जड चित्र न मानकर चेतन आनन्दमय साक्षात् भगवान् मानना चाहिये और मन-ही-मन उनकी आज्ञा लेकर सारे कर्म करने चाहिये।

(३) प्रातःकालकी संध्या पूर्व अथवा उत्तरकी ओर मुँह करके करनी चाहिये। संध्या करते समय भगवान्की मूर्तिसे कुछ हटकर बैठ सकते हैं। असलमें भगवान्की ओर पीठ नहीं होनी चाहिये।

(४) पहले संध्या करके फिर भगवान्की पूजा करनी चाहिये।

(५) प्रातःकाल संध्या करनेके बाद ही फल-दूध आदि लेने चाहिये। बीमारीकी स्थितिमें पहले भी ले सकते हैं।

(६) पेट सदा साफ रहेगा तो रोग नहीं होंगे। पेट साफ रखनेके लिये खान-पानमें संयम रखना आवश्यक है। मीठा न खाकर साग-सब्जी अधिक खानी चाहिये। रोटी चोकरमिले आटेकी होनी चाहिये। बीच-बीचमें एनिमासे पेट साफ कर लेना उत्तम है।

है, जो साधन करनेपर खरा उतरे, जो ऋषि-मुनियोंके द्वारा सेवित हो और जिसके द्वारा होनेवाला लोककल्याण प्रत्यक्ष हो।

(२) कोई उपदेशक सत्यका, भगवान्‌का प्रतिपादन करता है, पर स्वयं उनको नहीं मानता—यह ठीक नहीं है। एक बार एक सज्जन आये, थे वे बड़े विद्वान्। उनके व्याख्यानकी व्यवस्था हुई। व्याख्यान आरम्भ करनेके पहले उन्होंने पूछा—'कहिये क्या कहें—ईश्वरका खण्डन करें या मण्डन।' उनसे कहा गया, 'जो सच्चा सिद्धान्त हो, उसीका प्रतिपादन कीजिये।' उन्होंने कहा—'मेरा सिद्धान्त तो यही है, जैसा मंच (प्लेटफार्म), वैसा भाषण। मैं कुछ मानता-वानता नहीं; व्याख्यान आप कहें, उसी विषयपर दे दूँ।' यह ठीक नहीं है। उपदेशक या वक्ताको वस्तुतः उसी विषयपर बोलना चाहिये, जिसको वे स्वयं सिद्धान्तरूपसे मानते हों।

(३) सिद्धान्तका मानना ही पर्याप्त नहीं है, उसको जीवनमें उतार लेना आवश्यक है। जो कुछ कहे, वही करे। वैसे उपदेशकको बहुत समझाना नहीं पड़ता। उसका जीवन ही मूर्तिमान् उपदेश होता है। उसको देखकर ही लोग समझ लेते हैं और व्याख्यानकी अपेक्षा बहुत अच्छा समझते हैं। इसके विपरीत एक आदमी, जो सत्यपर बड़े महत्त्वका भाषण देता है, मद्यपानको महान् पाप सिद्ध करता है, पर अलग जाते ही बात-बातमें झूठ बोलता है और शौकसे शराब पीता है, उसके भाषणका कोई भी महत्त्व नहीं, कुछ भी मूल्य नहीं।

(४) वक्ताका उद्देश्य होना चाहिये लोक-कल्याणकारी सत्य सिद्धान्तके उपदेशद्वारा लोककल्याण करना। वह श्रोताओंके सामने सिद्धान्तकी महत्ता बतलाता है और साथ ही अपना अनुभव भी उनको प्रकारान्तरसे बतलाता है—ठीक उसी प्रकार जैसे किसी रोगीको, कोई

उसी रोगसे छूटा हुआ पुरुष अपनी अनुभूत चिकित्साका उपदेश करे और 'मैंने उसका कैसे-कैसे उपयोग करके क्या-क्या लाभ उठाये' यह भी बताये और यह सब उसके रोगका नाश करनेके लिये ही करे। सच्चा उपदेशक दूकान नहीं खोलता। वह तो सच्चे जिज्ञासुके सामने उसके कल्याणार्थ सरलताके साथ अपनी अनुभूत साधनाका व्याख्यान करता है। उसके मनमें कभी यह कल्पना ही नहीं होती कि मैं अपने भाषणसे किसीको रिझाकर अपनी ओर आकृष्ट करूँ।

(५) ऐसे व्याख्यानदाता, उपदेशक, कथावाचक, गुरु देखे जाते हैं, जो बहुत सुन्दर स्वरोंमें गाते हैं, नाचते हैं, आँसू बहाते हैं, मूर्छित-से होकर गिर पड़ते हैं, बड़ी सुन्दर कथा कहते हैं, जनताको रुला देते हैं, हँसा देते हैं, बड़ी सुन्दर साहित्यिक आलोचना करते हैं; परंतु इन सबका लक्ष्य रहता है—किसी प्रकार जनताको रिझाना और फिर उससे पूजा, धन, मान आदि प्राप्त करना। कथामें अत्युच्च दिव्य प्रेमका निरूपण करते हैं, परंतु पाये जाते हैं घृणित कामके कीड़े। वैराग्य, त्याग और जगत्की असत्ताका निर्वचन करते हैं। कहते हैं—'कभी जगत् बना ही नहीं ; बिना ही हुए सीपमें रजतकी भाँति, आकाशमें तिरमिरेकी भाँति भास रहा है और दूसरे ही क्षण येन केन प्रकारेण धनादिके संचयमें लग जाते हैं तथा एक-एक पैसेके लिये एक-दूसरेसे लड़ने लगते हैं। तुलसीदासजीने ऐसे ही लोगोंके लिये कहा है—

ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ बस करहिं बिप्र गुर घात॥

(मानस ७।९९)

गुरु चरित्रवान् हो, विद्वान् हो, अनुभवी हो, तभी वह भगवान्के मार्गका पथ-प्रदर्शक बन सकता है। नहीं तो अंधेको अंधा ले जाय

और गड्ढेमें डाल दे, इसी तरह वह भी अपने अनुयायीको गड्ढेमें ही डालता है।

संगीत, नृत्य, वक्तृत्व, नाट्य आदि कलाओंसे ही कोई महात्मा नहीं हो जाता। नाटकोंके दुश्चरित्र अभिनेता भी श्रीकृष्ण, शंकराचार्य, बुद्ध, चैतन्य महाप्रभु, मीरा आदिके पार्ट करते हैं तथा बहुत सुन्दर करते हैं। परंतु इससे उनका अपना कोई लाभ नहीं होता और वे बेचारे इसे स्पष्ट अभिनय कहते हैं। इससे जनताको भी धोखा नहीं होता। पर जो करते तो हैं केवल नाट्य और उसे दिखाते हैं असली रूपमें—ऐसे दम्भपूर्ण वक्ताओं, गुरुओं और उपदेशकोंसे बड़ी हानि होती है; क्योंकि उनसे भोले-भाले लोग ठगे जाते हैं और फलतः सत्य-सिद्धान्तमें अविश्वासी होकर पतनोन्मुख हो जाते हैं।

अतएव वक्ता, उपदेशक और गुरुओंमें उपर्युक्त पाँचों बातें आनी चाहिये, तभी वे उपदेश करनेके अधिकारी होते हैं, तभी उनके उपदेशका प्रभाव पड़ता है और तभी उनके द्वारा लोककल्याण होता है।

आप उपदेशकका कार्य करना चाहते हैं तो पहले अपनेको उसका अधिकारी बना लीजिये। उपदेश करना केवल पेशा नहीं होना चाहिये।

═══★═══

भगवान् शिव और राम एक हैं

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि रामायणका यह कथन सर्वथा सत्य है कि शिवद्रोही रामभक्त अथवा रामद्रोही शिवभक्त नरकमें पड़ते हैं। साथ ही 'कल्याण' का वह लेख भी ठीक है, जिसमें एक देवताकी ही अनन्य उपासनापर जोर दिया गया है। इन दोनोंमें कोई विरोध नहीं है। केवल श्रीराम और श्रीशिवके प्रति विरोधका निषेध किया गया है। किसी एक स्वरूपकी उपासनाका यह अर्थ नहीं कि वह दूसरे स्वरूपसे द्रोह करे; क्योंकि दूसरे सभी स्वरूप भी उन्हीं भगवान्के हैं, जिनकी वह उपासना करता है। यदि कोई हमारे एक पैरपर फूल चढ़ाये और दूसरेपर बर्छी मारे तो क्या हम उसपर प्रसन्न होंगे ? एक सज्जन सरकारी अफसर भी हैं और ब्राह्मण भी हैं। अब कोई ब्राह्मण-स्वरूपकी पूजा करे और सरकारी अफसर-स्वरूपपर डंडा चलावे तो क्या इससे वे प्रसन्न होंगे ? इसी प्रकार भगवान्के एक स्वरूपसे प्रेम और दूसरेसे वैर रखनेवाला वास्तवमें भगवान्से प्रेम करता ही नहीं। ऐसे प्रेमीके प्रेमसे भगवान् प्रसन्न नहीं होते। अतः भगवान् विष्णु या शिवमेंसे किसी एकके प्रति अनन्य भक्ति रखते हुए भी दूसरेकी निन्दा नहीं करनी चाहिये; बल्कि यही समझना चाहिये कि वह भी मेरे ही भगवान्का रूप है। यही रामायण और 'कल्याण' का अभिप्राय है। शेष भगवत्कृपा।

——★——

श्राद्धमें ब्राह्मण-भोजन आवश्यक है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि मृत्युके बारहवें दिन शास्त्रानुसार समस्त क्रियाओंके करनेके पश्चात् ब्राह्मणोंको भोजन कराया जाता है। भोजन विशेष हो या साधारण अथवा कितने ब्राह्मणोंको कराया जाय, यह अपनी-अपनी शक्तिपर निर्भर है। पर वह ब्राह्मण-भोजन श्राद्धका एक अति आवश्यक और अनिवार्य अङ्ग है। इस धार्मिक प्रथाको बंद करनेका प्रयत्न न समाजको करना चाहिये, न सरकारको ही। इस समय अन्नकी कमी है, इसलिये ब्राह्मणोंकी संख्यामें कमी करना तो उचित है; पर श्राद्ध-कर्ममें ब्राह्मण-भोजनको सर्वथा उठा देना अनुचित है। आप ब्राह्मण हैं तो न्यायतः निमन्त्रण मिलनेपर आप श्राद्धभोजन स्वीकार कर सकते हैं। श्राद्धकर्म अत्यन्त आवश्यक है। शेष भगवत्कृपा।

———★———

अपना मत (वोट) किसको दें ? *

प्रिय महोदय ! आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि 'देशमें चुनाव शीघ्र होनेवाला है और नियमानुसार हम सभीको उसमें अपना मत देना पड़ेगा। अतएव हमलोग किनको मत दें—यह बतलाइये।' इसके उत्तरमें निवेदन है कि असलमें आज-कलका राजनीतिक क्षेत्र अत्यन्त दूषित हो गया है। श्री Shaw Desmond ने अपनी 'World-birth' पुस्तकमें (देखिये पृष्ठ २४८) लिखा है—'Like horse-racing, there is something in Politics which degrades. They turn good men into bad men and bad into worse.' 'घुड़दौड़की भाँति राजनीतिमें भी ऐसा कुछ है, जो मनुष्यको नीचेकी ओर ढकेल देती है। वह अच्छे मनुष्योंको बुरे मनुष्य और बुरोंको और भी पतित बना देती है।'

फिर आजकलकी धर्मशून्य राजनीति तो और भी भयानक है। बुराईमें नाम तो लिया जाता है धर्मका, पर सच पूछा जाय तो सारी बुराई है धर्मसे अनियन्त्रित उच्छृङ्खल राजनीतिमें ही। इसी राजनीतिने दो महायुद्ध करवाये और यही अब तीसरेके 'उद्योगपर्व'—में लगी है।

---

* यह पत्र जुलाई सन् १९५० ई० में लिखा गया था। सन् १९५१ ई० में स्वतन्त्र भारतमें सर्वप्रथम चुनाव होनेवाले थे। एक ही स्थानके लिये अनेकों उम्मीदवार खड़े हो रहे थे। देशवासियोंके मनमें यह प्रश्न था कि देश-धर्मकी रक्षा एवं हितकी दृष्टिसे अपना मत (वोट) किसको दें। लोगोंकी उसी जिज्ञासाके उत्तरस्वरूपमें यह पत्र है। यद्यपि इसकी विशेष उपयोगिता सामयिक थी, परंतु इसमें वर्णित विचारोंसे सदा ही मार्ग-दर्शन प्राप्त होता रहेगा।

—सम्पादक

सहयोगी 'आर्यमित्र' ने बहुत ठीक लिखा है—'भारतवर्षकी तबाहीका कारण भी यही गंदी और सड़ी राजनीति है। जिस राजनीतिने मानवताका संहार किया, वैर-वृक्षका बीज बोकर छिन्नता-भिन्नता और आपा-धापीका स्वार्थपूर्ण जाल बिछाया, उसे भली कहना सत्यका गला घोंटना और आत्माका हनन करना है।' हम फिर डंकेकी चोट राजनीतिक अखाड़ेबाजोंसे पूछना चाहते हैं कि वे बतायें और जरूर बतायें कि धर्मने कब और क्या अनर्थ किया; यदि नहीं किया तो आज वे 'धर्म' शब्दका उच्चारण करनेमें भी अपनेको क्यों कलङ्कित समझते हैं ?

फिर, आजकी राजनीतिमें जनतन्त्रके नामपर मत (वोट) प्राप्त करनेके लिये जिन साधनोंको काममें लाया जाता है, वे कितने घृणित और दूषित हैं। बिना हुए ही अपने मुँहसे बड़े-बड़े गुणोंका अपनेमें आरोप करना और दूसरेके सच्चे गुणोंको भी छिपाकर उसमें बिना हुए ही बड़े-बड़े दोष बतलाना; अपनेको ईमानदार बतलाना— और यह जानते हुए भी कि प्रतिपक्षी मुझसे अधिक ईमानदार है—उसको बेईमान बताना; मतदाताओंको फुसलाना, रिश्वत देना, डराना-धमकाना, बहकाना और धोखा देना; चाहे जैसी प्रतिज्ञा कर लेना, साथ ही द्वेष, दम्भ, छल, मार-पीट आदि न जानें ऐसे कितने पाप-प्रपञ्च हैं, जो मत पानेके लिये किये जाते हैं। देशके करोड़ों रुपयोंका नाश होनेके साथ ही इसमें जो भयानक चारित्रिक पतन होता है तथा वैर-विरोधकी परम्परा चलती है, वह बड़ी ही अकल्याणकारिणी है। राजनीतिके साथ यदि धर्म हो—यदि राजनीति सत्य, अहिंसा, अस्तेय, प्रेम, तपस्या, मन-इन्द्रियोंका निग्रह, धैर्य, निःस्वार्थभाव या त्याग और कर्तव्यपरायणता आदि लक्षणोंवाले धर्मसे नियन्त्रित हो, तो ये सब

पाप और बेईमानियाँ न हों, चुनाव भी सच्चा हो, न इतनी दलबंदियाँ ही हों। उसमें योग्य पुरुषका ही चुनाव हो। पर ऐसा होना तो इस समय सम्भव नहीं प्रतीत होता। राजनीतिक क्षेत्र बहुत दूषित हो गया है, अधिकार और पदकी लिप्सा बहुत बढ़ गयी है। अतएव किसी भी दबाव, धमकी, लालच, भय आदिके वशमें न होकर अपनी समझसे ऐसे लोगोंको मत देना चाहिये; जो भगवान्के विश्वासी हों, सत्यवादी हों, न्यायका पक्ष लेनेवाले हों, त्यागी हों, सदाचारी हों, निःस्वार्थ हों, बुद्धिमान् हों, निर्भीक हों, धैर्यवान् हों, राजनीतिकुशल हों, द्वेषमूलक साम्प्रदायिक भावोंके दोषसे रहित हों और सारी प्रजाका समान भावसे कल्याण चाहनेवाले हों—फिर चाहे वे कांग्रेसी हों, हिंदू-महासभाई हों या अन्य किसी दलके हों अथवा स्वतन्त्र हों। चुनावका लक्ष्य ही होना चाहिये—सुयोग्यतम पुरुषोंका निर्वाचन।

हाँ, आपने जो सनातनधर्मियोंकी दृष्टिसे पूछा—इस सम्बन्धमें कुछ अवश्य विचार करना है। यद्यपि देशमें सनातनधर्मियोंकी संख्या ही अभीतक अधिक है, फिर भी अवहेलना उन्हींकी होती है और आघात भी उन्हींके धर्मपर होता है। इसका कारण है उनकी उदासीनता। सरकार अपनेको धर्मनिरपेक्ष घोषित करती है। विधानमें स्पष्ट उल्लेख भी है कि सबको अपने-अपने विश्वासके अनुसार धर्मपालनका अधिकार है। परंतु उसी स्थानपर सुधारके नामपर सनातनधर्मियोंके इस अधिकारपर पानी फेर दिया गया है। 'हिंदू-कोडबिल' आदि इसीके परिणाम हैं। महान् तपस्वी स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराजके तप, अनुष्ठान, प्रचार और प्रबल विरोधके कारण यह हिंदूकोड कानून नहीं बन सका; नहीं तो, अबतक यह कानून बन गया होता। जैसे ईसाई, पारसी, मुसल्मान—सबको अपनी-अपनी

पद्धतिके अनुसार अपने-अपने धर्मके पालनका अधिकार है, वैसे ही सनातनी हिंदुओंको भी होना चाहिये। थोड़ी देरको यह भी मान लें कि सनातनी हिंदुओंकी संख्या बहुत कम है, तो भी उनको अपने विश्वासके अनुसार धर्मपालनका अधिकार होना चाहिये। कानून बनाकर उन्हें बलात् अपने विश्वासके विरुद्ध कार्य करनेको बाध्य क्यों करना चाहिये। उनके धर्मका निर्णय कानूनसे नहीं, उस धर्मसे अनजान लोगोंसे नहीं, बल्कि उसके पालन करनेवाले और जाननेवाले आचार्यों तथा विद्वानोंके द्वारा होना चाहिये। यह न्याय होते हुए भी इसका पालन नहीं हो रहा है और सनातनी हिंदुओंके विश्वासपर कुठाराघात किया जा रहा है। इसीलिये अगले चुनावमें कुछ विद्वान् सनातनी पुरुषोंका भी निर्वाचित होना अत्यन्त आवश्यक है। इस समय देशमें जो दल चुनावमें आनेवाले हैं, उनमें स्वामीजी श्रीकरपात्रीजीकी एक 'रामराज्यपरिषद्' ही ऐसी है, जो शुद्ध सनातनी भावोंका उदारतापूर्वक समर्थन करती है और सबको अपने-अपने विश्वासके अनुसार धर्मपालनकी छूट देती है। अतएव सनातनधर्मी जनताको (उपर्युक्त गुणोंसे युक्त पुरुष), जो रामराज्यपरिषद्की ओरसे खड़े हों, उन्हें ही अपना मत देना चाहिये। उसके बाद हिंदू-सभा आदि-जैसी संस्थाओंके उपर्युक्त गुणोंसे युक्त पुरुषोंको देना चाहिये। हिंदू-सभा सनातनी भावोंका पूर्णतया समर्थन न करनेवाली होनेपर भी भारतीय संस्कृतिकी रक्षा, गोवधनिवारण, देशकी अखण्डता आदि विषयोंमें बहुत अच्छे विचार रखती है। सबसे पहली बात तो है चुनावमें खड़े होनेवाले पुरुषकी योग्यता। वे यदि निष्पक्ष, न्यायप्रिय, धर्मभीरु, ईश्वरको माननेवाले, सत्यवादी, कुशाग्रबुद्धि और स्वार्थहीन होंगे तो फिर वे चाहे किसी दलके हों, उनके द्वारा अन्यायकी सम्भावना बहुत कम रहेगी।

मतदाताको असलमें इसी बातका ध्यान रखना है कि सुयोग्यतम पुरुष चुने जायँ। इसके लिये किसी संस्थाका और उसके द्वारा जानेवाले किसी भी पुरुषका विरोध करें, इसमें कोई आपत्ति नहीं है; परंतु उचित-अनुचितका विचार न करके अमुक संस्थाका—कांग्रेस, हिंदू-महासभा या अन्य किसीका विरोध ही करना है, इस प्रकारकी द्वेषमूलक प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। जैसे पिछले चुनावमें लोग कहते थे कि 'हमें तो कांग्रेसके कुत्तेको भी वोट देना है, पर कांग्रेससे बाहरी देवताको भी नहीं', वैसे ही अब यह न कहें कि 'हमें तो कांग्रेसके विरोध करनेवाले कुत्तेको भी वोट देना है, कांग्रेसी देवताको भी नहीं।' राग-द्वेषहीनता, विवेक, न्याय, निष्पक्षभाव रहना चाहिये; तभी मतदाताका निर्णय यथार्थ और विशुद्ध होगा। नहीं तो जिनसे द्वेष है, उनमें दोष-ही-दोष दिखायी देंगे और जिनमें राग है, उनमें गुण-ही-गुण। यथार्थ निर्णय होगा ही नहीं और इस दशामें अवाञ्छनीय पुरुष चुने ही जायँगे।

पर जिनको भी मत दें, उनसे कम-से-कम ये चार प्रतिज्ञाएँ अवश्य करा लेनी चाहिये—

१. गोवधको कानूनके द्वारा कतई बंद करायेंगे। २. किसी भी धर्ममें दखल देनेवाला कोई कानून नहीं बनायेंगे। ३. भारतीय संस्कृतिकी रक्षा करेंगे और ४. अन्न, वस्त्र, न्याय, शिक्षा और चिकित्साको सस्ती-से-सस्ती बनायेंगे।

'कल्याण' का यह क्षेत्र नहीं है। आपने पूछा, इसलिये इतनी बातें लिख दी गयी हैं।

———★———

आत्मा अनिर्वचनीय है

प्रिय महोदय ! सादर हरिस्मरण। आपने लिखा कि 'तुम कौन हो, इस प्रश्नका यथार्थ उत्तर दो।' तो इसका उत्तर यह है कि आप यदि देहदृष्टिसे मेरा परिचय जानना चाहते हैं तो मैं एक साधारण मनुष्य हूँ, वैश्यजातिमें मेरा जन्म हुआ है और संसारमें अन्य सब लोगोंकी भाँति ही सतत मृत्युकी ओर जा रहा हूँ। और यदि आपका प्रश्न आत्मदृष्टिसे है तो कुछ कहते नहीं बनता। शास्त्रोंने आत्माको 'सत्-चित्' और 'आनन्द' नाम देकर समझानेकी चेष्टा की है। किंतु यह लक्षण भी अधूरा ही है। क्या असत्, जड और आनन्देतर वस्तु आत्मासे भिन्न है ? कोई शब्द नहीं, कोई भाषा नहीं, जो उसका सम्पूर्णरूपसे निर्वचन कर सके। जहाँतक न पहुँचकर मनसहित वाणी लौट आती है, जहाँ बुद्धिकी गति कुण्ठित हो जाती है, जिस तत्त्वको श्रुतियाँ 'नेति-नेति' कहकर ही चुप हो जाती हैं, जिसके यथार्थ स्वरूपका प्रकाश नहीं कर सकतीं, उसका वर्णन कौन कर सकता है। वह नेत्रका भी नेत्र, मनका भी मन, बुद्धिकी भी बुद्धि और आत्माका भी आत्मा है। वह सर्वव्यापी, सर्वस्वरूप होता हुआ भी सबसे विलक्षण है—सर्वातीत है। उसके विषयमें तो इतना ही कहकर संतोष करना पड़ता है कि वह अनिर्वचनीय है—अनुभवगम्य है। यह मेरा अनुभव नहीं, शास्त्रोंका सिद्धान्त और महात्माओंका अनुभव है।

भक्त मैं हूँ नहीं, जो कहूँ कि मुझे भगवान्‌का दासत्व प्राप्त है। ऐसा सौभाग्य जिन महानुभावोंका है, मैं तो उनकी चरणरजका भिखारी हूँ। हाँ, इतना कह सकता हूँ कि श्रीभगवान् अपरिसीम, अनन्त, अविकारी, अनामय एवं अनिर्वचनीय हैं। साथ ही वे सम्पूर्ण भूतोंके सुहृद् तथा परम दयालु हैं। सम्पूर्ण जीवोंके प्रति उनका स्वाभाविक सौहार्द है (**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'**)। अतः एक प्राणीके नाते उनकी इस सहज कृपाका, स्वाभाविक सौहार्दका मैं भी अधिकारी हूँ और समय-समयपर मुझे भी इसका अनुभव होता रहता है।

मेरे इस उत्तरसे पता नहीं, आपको संतोष होगा या नहीं ? शेष भगवत्कृपा।

═★═

वर्ण जन्म-कर्म दोनोंसे है

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। 'गीतातत्त्वविवेचनी' के **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'** इस श्लोकके अर्थके सम्बन्धमें आपने शङ्का की, उसके सम्बन्धमें निम्नलिखित निवेदन है। गीतातत्त्वविवेचनीमें श्लोकका यह अर्थ किया गया है—

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कार्यका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान ।'

अब इस श्लोकका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा गया है—'अनादिकालसे जीवोंके जो जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्म हैं, जिनका फलभोग नहीं हो गया है, उन्हींके अनुसार उनमें यथायोग्य सत्त्व, रज और तमोगुणकी न्यूनाधिकता होती है। भगवान् जब सृष्टि-रचनाके समय मनुष्योंका निर्माण करते हैं, तब उन-उन गुण और कर्मोंके अनुसार उन्हें ब्राह्मण आदि वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं। अर्थात् जिनमें सत्त्वगुण अधिक होता है, उन्हें ब्राह्मण बनाते हैं; जिनमें सत्त्वमिश्रित रजोगुणकी अधिकता होती है, उन्हें क्षत्रिय, जिनमें तमोमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, उन्हें वैश्य और जो रजोमिश्रित तमःप्रधान होते हैं, उन्हें शूद्र बनाते हैं। इस प्रकार रचे हुए वर्णोंके लिये उनके स्वभावके अनुसार पृथक्-पृथक् कर्मोंका विधान भी भगवान् स्वयं ही कर देते हैं। अर्थात् ब्राह्मण शम-दम आदि कर्मोंमें रत रहें, क्षत्रियमें शौर्य-तेज आदि हों, वैश्य कृषि-गोरक्षामें लगें और शूद्र

सेवापरायण हों—यों कहा गया है (१८।४१—४४) । इस प्रकार गुण-कर्मविभागपूर्वक भगवान्‌के द्वारा चतुर्वर्णकी रचना होती है। यही व्यवस्था जगत्‌में बराबर चलती है।'

कर्मसे जाति माननेवालोंको इन पङ्क्तियोंपर विचार करना चाहिये। गीतातत्त्वविवेचनीमें भी कर्मसे जाति मानी गयी है, परंतु किस प्रकार ? पूर्वजन्ममें जो कुछ कर्म होता है, उसीके अनुसार अगले जन्ममें जाति प्राप्त होगी। इस प्रकार जातिमें जन्मकी ही प्रधानता सिद्ध होती है। कर्म तो भावी जन्ममें कारणमात्र है। यही बात उपनिषदोंमें कही गयी है। छान्दोग्योपनिषद्‌में जीवोंकी कर्मानुरूप गतिका वर्णन करते हुए स्पष्ट बतलाया गया है कि—

'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।' (५।१०।७)

अर्थात् 'उन जीवोंमेंसे जो इस लोकमें रमणीय आचरण-(पुण्यकर्म करने) वाले होते हैं, वे निश्चय ही उत्तम योनि—ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं और जो इस संसारमें कपूय (अधम) आचरण करनेवाले होते हैं, वे अधमयोनि—कुत्ते, सूअर अथवा चण्डालकी योनिको प्राप्त होते हैं।'

स्मरण रहे, यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और चण्डाल आदि सबको 'योनि' कहा गया है। इस जन्मके कर्मके अनुसार जाति माननेपर ब्राह्मण आदि कोई नियत योनि ही नहीं रह सकती। प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न कर्मोंका आचरण कर प्रतिदिन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनता रहेगा !

इसीलिये 'ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग जन्मसे मानना चाहिये या कर्मसे ?' इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है—

'यद्यपि जन्म और कर्म दोनों ही वर्णके अङ्ग होनेके कारण वर्णकी पूर्णता दोनोंसे ही होती है, फिर भी प्रधानता जन्मकी ही है। इसलिये जन्मसे ही ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग मानना चाहिये; क्योंकि इन दोनोंमें प्रधानता जन्मकी ही है। यदि माता-पिता एक वर्णके हों और किसी प्रकारसे भी जन्ममें संकरता न आये तो सहज ही कर्ममें भी प्रायः संकरता नहीं आती। परंतु सङ्गदोष, आहार-दोष और दूषित शिक्षा-दीक्षादि कारणोंसे कर्ममें कुछ व्यतिक्रम भी हो जाय तो जन्मसे वर्ण माननेपर वर्णरक्षा हो सकती है। तथापि कर्मशुद्धिकी कम आवश्यकता नहीं है। कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर वर्णकी रक्षा बहुत ही कठिन हो जाती है। अतः जीविका और विवाहादि व्यवहारके लिये जन्मकी प्रधानता तथा कल्याणकी प्राप्तिमें कर्मकी प्रधानता माननी चाहिये; क्योंकि जातिसे ब्राह्मण होनेपर भी यदि उसके कर्म ब्राह्मणोचित नहीं हैं तो उसका कल्याण नहीं हो सकता तथा सामान्य धर्मके अनुसार शम-दमादिका साधन करनेवाला और अच्छे आचरणवाला शूद्र भी यदि ब्राह्मणोचित यज्ञादि कर्म करता है और उससे अपनी जीविका चलाता है तो पापका भागी होता है।'

'यदि मनुष्यके आचरण और कर्म देखकर उसके अनुसार उसकी जाति मान ली जाय तो क्या हानि है ?' इस प्रश्नके उत्तरमें लिखा गया है—

'जीवोंको कर्मफल भुगतानेके लिये ईश्वर ही उनके पूर्व-कर्मानुसार उन्हें विभिन्न वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं। ईश्वरके विधानको बदलनेमें मनुष्यका अधिकार नहीं है। आचरण देखकर वर्णकी कल्पना करना भी

असम्भव ही है। एक ही माता-पितासे उत्पन्न बालकोंके आचरणोंमें बड़ी विभिन्नता देखी जाती है। एक ही मनुष्य दिनभरमें कभी ब्राह्मणका-सा तो कभी शूद्रका-सा कर्म करता है, ऐसी अवस्थामें वर्णका निश्चय कैसे होगा ? (दिनभरमें कितनी बार वर्ण बदलेंगे !) फिर, ऐसा होनेपर नीचा कौन बनना चाहेगा ? खान-पान और विवाहादिमें भी अड़चनें पैदा होंगी। फलतः वर्णविप्लव हो जायगा और वर्ण-व्यवस्थाकी स्थितिमें बड़ी भारी बाधा उपस्थित हो जायगी। अतएव केवल कर्मसे वर्ण नहीं मानना चाहिये।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि वर्णका मूल है—जन्म; कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है और वह अत्यावश्यक है। वर्तमान वर्णकी प्राप्तिमें पूर्वजन्मका कर्म कारण बनता है। इस प्रकार वर्ण और जातिमें जन्म और कर्म दोनों ही आवश्यक हैं, परंतु प्रधानता जन्मकी है। शेष भगवत्कृपा।

★

भगवान् कहाँ हैं ?

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपके कृपापत्र मिले। सबके उत्तर इसी पत्रमें समझें।

(१) पहले पत्रमें आपने पूज्य महात्माजीकी हत्या और देशमें अन्यत्र होनेवाली दुर्घटनाओंका उल्लेख करते हुए यह प्रश्न किया है कि 'भगवान् कहाँ हैं और वे क्यों नहीं अवतार लेकर यह सब दूर करते ?' आपने यह भी लिखा है कि मिलान करनेपर महाभारत और रामायणसे इस समयकी घटनाएँ अधिक भयंकर हैं। प्रभुके प्रति कुछ आपको अविश्वास-सा भी हो चला है उन घटनाओंको देखकर।

पहली बात यह है कि विश्ववन्द्य महात्माजीने जीवनभर जिनके नामोंका कीर्तन, गुणोंका गान तथा स्तुति-प्रार्थना की, उन प्रभुके प्रति कभी उनका विश्वास दुर्बल नहीं हुआ। उनके जीवनमें बड़े-बड़े संकट आये, बड़ी-बड़ी निराशाएँ आयीं, किंतु कभी उनका ईश्वर-विश्वास शिथिल नहीं हुआ। मरते समय भी उनके मुखसे 'राम-नाम' ही निकला। आपने शायद कभी भक्तप्रवर सुधन्वा और अर्जुनके युद्धका प्रसङ्ग नहीं पढ़ा। वे दोनों भगवान्के भक्त थे, दोनों भगवान्की दया और शक्तिका भरोसा करके ही एक-दूसरेको यमलोक भेजनेकी चेष्टा करते थे। भक्तवत्सल भगवान्को दोनों भक्त प्रिय थे। फिर भी प्रभुने एकको जीवित रखना और दूसरेको अपने परमधाममें भेजना आवश्यक समझा और वैसा ही हुआ। अभिमन्यु और भीष्म क्या भगवान्को कम प्रिय थे ? फिर भी समय आनेपर दोनों मारे गये। भगवान् चाहते तो उन्हें बचा लेते, पर यह उन्होंने नहीं किया। जगत्में कब क्या हो

रहा है, किसकी रक्षाके लिये कब क्या करना है, इसके विषयमें भगवान् सदैव सावधान हैं। अश्वत्थामाके आक्रमणसे द्रौपदीके पाँच पुत्र मारे गये। भगवान्ने उन्हें मरने दिया और पाँचों पाण्डवोंको बचा लिया। क्यों ? इसका यथार्थ उत्तर तो भगवान्के ही पास है। शास्त्रानुसार यह कहना पड़ता है कि प्रभु जानते हैं, कौन कितनी आयु लेकर आया है। सबको अपने पूर्वकर्मोंके अनुसार शरीर, धन, सुख-दुःख, आयु तथा अन्यान्य साधन प्राप्त होते हैं। इसका ज्ञान सर्वज्ञ सर्वसाक्षी भगवान्को अवश्य रहता है। गत वर्षोंमें जिनपर जो कुछ बीता, वह उनके ही कर्मोंका फल था। उसका उपभोग हो जानेसे उन सबकी आत्मशुद्धि ही हुई है। महात्माजीकी भी आयु पूरी हो चुकी थी। उनको जाना ही था, परंतु इस प्रकार जानेसे वे अमर हो गये। जन-जनके हृदयमें, प्राणमें वे एक बार जी उठे। एकसे अनेक हो गये। यह सौभाग्य भगवान्के कृपापात्रको ही सुलभ होता है। उनकी-जैसी मृत्यु ईर्ष्याकी वस्तु है। वे संतोंकी भाँति जीवित रहे और वीरकी मौत मरे। वे धन्य हो गये ?

आजकी घटनाएँ आपको अधिक भयंकर इसलिये लगी हैं कि आपने बहुत-सी बातें प्रत्यक्ष देखी हैं। जो लोग यह सब पुस्तकोंमें पढ़ेंगे, उनको इसकी भीषणताका उतना अनुभव नहीं होगा। रामायण और महाभारतके कालमें असुरोंका अत्याचार वर्णनातीत था। उस समयके नर-नारी उनके उपभोगकी वस्तु तो थे ही, कलेवा और भोजनकी भी वस्तु थे। सूखी हड्डीवाले ऋषियोंतकको राक्षसलोग चबा डालते थे। यत्र-तत्र हड्डियोंके पहाड़ लग गये थे। श्रीरामने वनवासके समय उन्हें देखा, दुःख प्रकट किया और राक्षसोंके विनाशकी प्रतिज्ञा की। क्या आपने कभी सोचा है, भगवान् रामने ऋषियोंकी हत्या क्यों होने दी ? जब भगवान्के उपासक तपस्वी ऋषि-मुनि मारे जा रहे थे, तब वे क्यों और कहाँ चुप बैठे थे ? हड्डियोंका पहाड़ लग जानेके

बाद वहाँ क्यों आये ? इन सबका एक ही उत्तर है, उन सबकी आयु पूरी हो चुकी थी। जितनी आयु अभी शेष थी, उनके जीवनपर जब संकटके बादल मँडराने लगे, तब प्रभुको भी उनकी रक्षाके लिये आना पड़ा। फिर भी अभी राक्षसोंकी आयु शेष थी, अतः उन्हें चौदह वर्षोंतक प्रतीक्षा करनी पड़ी। ईश्वरीय व्यवस्था अपने ढंगसे चलती है। मनुष्य घबराहटमें आकर कुछ-का-कुछ सोचने लगता है, यह ठीक नहीं। भगवान्का आना-न-आना सब जीव-जगत्की भलाईके लिये ही है। भगवान् सदा जीवोंके मङ्गलका, कल्याणका ही आयोजन करते हैं। बाहरसे कहीं किसी व्यवहारमें कठोरता दिखायी दे सकती है; किंतु वह माता-पिताद्वारा की हुई बालककी ताड़नाके समान सदा दयासे भरी रहती है। अतः दयामय सर्वसुहृद् प्रभुपर अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है।

(२) आपने 'कल्याण' के किसी लेखके आधारपर यह प्रश्न उठाया है कि 'जब पूर्ण अहिंसक जीवके ऊपर हिंसक जीव भी आक्रमण नहीं करते, तब बापूके ऊपर हिंसाका प्रयोग क्यों सम्भव हुआ ? बापू तो बड़े अहिंसक थे।' आपकी शङ्का ठीक है। बापूने अपने जीवनमें अहिंसाकी साधना की थी, इसलिये उनके मनमें किसीके प्रति वैरभाव नहीं रह गया था। तथापि जो अहिंसा जंगलके हिंसक पशुओंकी भी मनोवृत्ति बदल देती है—वे भी जहाँ अहिंसक बन जाते हैं, वैसी अहिंसा सिद्ध महापुरुषोंमें ही प्रतिष्ठित है, ऐसी बात सुनी जाती है। महर्षि पतञ्जलि भी कहते हैं—'**अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।**'—अहिंसाकी प्रतिष्ठा होनेपर उसके पास सभी जीव अपना वैर त्याग देते हैं। इससे अनुमान होता है कि बापू अहिंसाके ऊँचे साधक थे, परंतु सिद्धकी स्थितिमें नहीं पहुँचे थे। वे अपने लिये अहिंसक थे; परंतु अहिंसाकी इतनी प्रतिष्ठा वे अपने जीवनमें नहीं कर सके थे, जो

****

पास रहनेवालोंकी—विशेषतः हिंसकोंकी भी मनोवृत्तिको बदल देती है।

(३) आपने अपनी घरेलू परिस्थिति बताते हुए लिखा है कि 'मेरे चचेरे भाईकी स्त्रीने अपने पति और सासके कान भरकर आजसे दस-ग्यारह साल पहले हमलोगोंको अलग कर दिया और स्वयं वे लोग सुखी रहनेके लिये हमसे पृथक् हो गये। किंतु पासा उलटा पड़ा—हमलोगोंकी गिरी दशा सुधर गयी और वे लोग दुःखी एवं ऋणग्रस्त हैं।' बचपनमें उनके द्वारा आपका भी पालन हुआ है, उसे यादकर आप उनके प्रति अपना कर्तव्य पूछते हैं—यह आपकी सज्जनता है। भगवान्‌की यही दया है; वे निरपराध और असहायको सहारा देते हैं और अभिमानीका दर्प दलन करते हैं। अब आप प्रभुकी दयासे संतोषजनक अवस्थामें हैं, वे दुःखी हैं; अतः प्रभुके स्वभावको देखते हुए आपको उचित है कि आप जितना सम्भव हो, उनकी कुछ सेवा-सहायता अवश्य करते रहें। पर इसके लिये उनपर अहसान न जतायें। उनके दुःख दूर करनेमें जितना आपसे बन पड़े, आपको सच्चेपनसे नम्रतापूर्वक प्रयत्न करना चाहिये। इससे भगवान्‌की प्रसन्नता बढ़ेगी। आप सदा फलते-फूलते रह सकेंगे। पहलेका वैमनस्य भुलाकर उन लोगोंके प्रति सहानुभूति दिखाना ही आपका धर्म है। गाड़ीके पहियेकी नेमिकी तरह मनुष्यकी दशा कभी उन्नत और कभी अवनत होती रहती है, सदा एक-सी स्थिति नहीं रहती; अतः स्वयं समर्थ होनेपर निरभिमान होकर सदा दूसरोंको सहारा देना अपना परम धर्म मानना चाहिये। भगवान् किसीको धन, शक्ति, साधन और सुविधा इसीलिये देते हैं कि यह हमारे सृष्टि-संरक्षणके कार्यमें योग देगा। यदि हम किसी भी जीवकी थोड़ी-बहुत सेवा कर सकें तो भगवान्‌की आज्ञा पालन करके हमलोग अक्षय पुण्य एवं भगवत्कृपाके अधिकारी हो सकते हैं। शेष भगवत्कृपा।

——★——
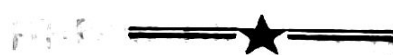
घर छोड़ना हानिकारक है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने अपनी शारीरिक दुर्बलताका उल्लेख करते हुए घर छोड़नेके लिये सलाह पूछी है, इसके उत्तरमें निवेदन है कि घर छोड़ना आपके लिये न तो उचित है न लाभदायक ही। भगवान् बुद्ध तथा श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी नकल हर आदमी नहीं कर सकता। उनमें जैसा महान् मनोबल था, वह हमलोगोंमें कहाँ है। मनुष्यको अपने अधिकारके अनुसार ही व्यवहार करना चाहिये, तभी वह सुखी रहता है; नहीं तो, आगे चलकर उसे बहुत पश्चात्ताप करना पड़ता है। जो लोकोत्तर महापुरुष हुए हैं, उनके पवित्र उपदेश ही हमारे लिये परिस्थिति और अधिकारके अनुरूप आचरण करनेयोग्य हैं। उनके आचरणोंका अनुकरण तो यथार्थरूपमें किया ही नहीं जा सकता।

भगवान् बुद्ध तथा श्रीगौराङ्ग महाप्रभुका बचपन कितना पवित्र तथा संयमपूर्ण था ! उसके सामने आप अपने बालकपनको देखिये। बचपनकी बुराइयाँ पूर्वजन्मके दुर्बल मनकी ही सूचक हैं। आपकी इस समय जो मानसिक स्थिति है, वह भी, जहाँतक मैं समझ पाया हूँ, यथार्थ वैराग्य नहीं है। यह प्रतिकूलतासे उत्पन्न भावना है, लज्जा और ग्लानिका परिणाम है। ऐसी अवस्थामें घर छोड़कर और कहीं चले जानेसे ही भजन बनने लगेगा, ऐसी बात नहीं सोचनी चाहिये। फिर, आजकल तो भजनके अनुकूल स्थानका मिलना भी बहुत कठिन है।

आपके मनमें भगवान्के दर्शनकी चाह है, यह बड़ी उत्तम चाह है। भगवान्के दर्शन उनकी कृपासे हो सकते हैं। इस युगमें

उनके दर्शनका श्रेष्ठ साधन है—उनकी अहैतुकी असीम कृपापर परम विश्वास करके उनके नामका नित्य स्मरण करना। इसको आप बाहरकी अपेक्षा घरपर अधिक सुगमतासे कर सकते हैं। सब समय भगवन्नामका अखण्ड स्मरण करते हुए ही घरके आवश्यक सारे काम करें। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! सब समय मेरा स्मरण करो और (समयपर) युद्ध करो। यों मन-बुद्धिको मुझमें अर्पण करनेपर तुम मुझको प्राप्त होओगे, इसमें संदेह नहीं है।'

इसके सिवा, अग्निकी साक्षी देकर जिस पत्नीका आपने पाणिग्रहण किया और जिसको साथ रखनेकी प्रतिज्ञा की, उसके सुख-दुःखका भी आपपर निश्चित उत्तरदायित्व है। आपके इस प्रकार गृह-त्यागसे यदि कोई बुराई आ गयी तो पत्नीके पाप-पुण्यका आपको भागीदार होना पड़ेगा। इस दृष्टिसे भी घर छोड़ना कदापि उचित नहीं है।

अतएव मेरी सलाह तो यह है कि आप घर छोड़नेका विचार त्याग दीजिये। चिकित्साका प्रयत्न करते रहिये। श्रद्धापूर्वक भगवन्नामका जप तथा भगवान्‌की प्रार्थना करनेसे भी आपके रोगका नाश हो सकता है। विश्वास हो तो, राम-नाम सब रोगोंकी एक रामबाण दवा है—**'सर्वतापशमनैकभेषजम्।'** शेष भगवत्कृपा।

═══★═══

पवित्र प्रेमका जीवन त्याग है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने एक विधवा बहनके प्रति अपने शुद्ध प्रेमका उल्लेख करते हुए बताया कि आपके आचरण पवित्र हैं और प्रेममें कोई अपवित्रता नहीं है, सो ठीक है। यदि ऐसी बात है तो बहुत श्रेष्ठ है; परंतु आपको अपना अन्तस्तल फिर गहरी नजरसे देखना चाहिये। प्रेमके नामपर कहीं मोह तो नहीं है। ऐसे अवसरोंपर प्रायः मोह ही प्रेमका चोगा पहनकर आया करता है और उसके परिणामस्वरूप मनुष्यका पतन हो जाता है।

याद रखना चाहिये—प्रेम शरीरसे नहीं होता और प्रेममें अपना तनिक-सा भी स्वार्थ नहीं रहता। प्रेमी चाहता है प्रेमास्पदका एकान्त कल्याण—उसको परमानन्दमें देखना। प्रेमास्पदको इस प्रकार सुख पहुँचानेमें यदि प्रेमीको भयानक यन्त्रणाका भोग करना पड़े, तो वह उसे भी बड़े चावसे भोगता है। जो मनुष्य प्रेमके नामपर आत्मतृप्ति यानी अपने मन-इन्द्रियोंका सुख चाहता है, वह प्रेमी नहीं है, कामी है; क्योंकि उसका लक्ष्य प्रेम नहीं है, उसका लक्ष्य है लौकिक सुखादिका भोग।

आप अपनेको देखिये—यदि जरा भी मोह हो तो तुरंत उसको त्याग दीजिये। कई बार यह होता है कि मनमें कोई स्पष्ट वासना नहीं दीखती, न काम ही प्रतीत होता है; पर जिस प्रेममें शारीरिक आसक्ति होती है—उससे मिलने-देखनेको जी छटपटाता है, वहाँ छिपी कामना रहती ही है। ऐसे प्रेमका त्याग करनेमें ही दोनोंका कल्याण है। शारीरिक सुख या मानसिक आमोद-प्रमोदकी इच्छा निश्चय ही मोहकी

प्रेरणासे होती है। वह देवी विधवा है, युवती है, उसका कल्याण है श्रीहरिके चिन्तनमें या परमात्मस्वरूप पतिके चिन्तनमें तथा संयम-त्याग-तितिक्षासे युक्त पूर्णरूपेण सादा जीवन बिताते हुए भगवान्‌का भजन करनेमें। किसी भी अन्य पुरुषके प्रति (विशुद्ध दीखनेवाला) आकर्षण भी उसके लिये भयकी वस्तु है। शरीरको सुखकी प्राप्ति हो; आमोद-प्रमोदसे उसका मन मुदित रहे—इस प्रकारकी चाह तो उसके और आपके दोनोंके ही लिये पतनकी ओर ले जानेवाली है। वह जब अनन्य भावसे अपने पतिका ही चिन्तन करेगी, पतिके वियोगमें व्रतपरायण, वैराग्यकी मूर्तिमान् प्रतिमा और तपस्यामें रत होकर रहेगी, तभी यथार्थ प्रेमदेवता परितुष्ट होंगे। वह आपके आकर्षणमें रहे और आप इसको सहन ही नहीं करें, प्रत्युत प्रोत्साहन देते रहें—इससे तो यही सिद्ध होता है कि आपके मनमें यथार्थ प्रेमदेवताके स्थानपर चुपकेसे कोई काम-पिशाच आ बैठा है! सच्चा प्रेमी—किसी पतिपरायणा स्त्रीका उसके अपने पतिके अतिरिक्त अन्य पुरुषके प्रति होनेवाला आकर्षण सहन ही कैसे कर सकता है। यह तो उसका पतन है और उस पतनको आप प्रेमी बनकर भी देख रहे हैं और उसे विशुद्ध प्रेम मान रहे हैं। पवित्र प्रेमका जीवन है—त्याग। आप जिससे प्रेम करते हैं, उसके लिये आपको त्याग करना होगा। आसक्तिको विशुद्ध प्रेममें कहाँ स्थान है। आपके द्वारा आसक्तिका व्यवहार न पाकर वह बहन यदि निराश होकर भगवान्‌के भजनमें लग जाती है तो यह उसके लिये परमकल्याणकी बात है। आप उसके साथ पवित्र प्रेम कीजिये उसे परम शान्तिमय पवित्र भगवद्धाममें पहुँचानेके लिये, जगत्‌के पदार्थोंसे प्राप्त होनेवाले क्षुद्र क्षणिक दुःखमूल शारीरिक और मानसिक सुखके लिये नहीं। इसके लिये यदि आपको उससे

सर्वथा अलग होना पड़े तो वह भी आपके सच्चे प्रेमका एक अङ्ग होगा। छिपी वासना बड़े सुन्दर-सुन्दर स्वाँग लाया करती है, उससे सदैव सावधान रहना चाहिये।

जगत्के लोग जो बदनामी करते हैं, उसमें भी कुछ सत्यता है। वे आपके मनको ही नहीं, बाहरी व्यवहारको भी पवित्र और परम आदर्श देखना चाहते हैं। आप जब उस बहनके साथ शारीरिक आसक्तिके व्यवहारसे अलग हो जायँगे, तब यह बदनामी अपने-आप दूर हो जायगी और तब आपका प्रेम विशुद्ध—यथार्थ विशुद्ध हो जायगा, जो आपके और उसके, दोनोंके लिये कल्याणकारी होगा।

★

कुसङ्गका त्याग करें

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके पतनमें मेरी समझसे तो कुसङ्ग ही प्रधान कारण है। सिनेमाके शौकीनोंके साथ आपने मेल बढ़ाया, सिनेमा देखनेका आपको चस्का लगा। उसीके परिणामस्वरूप आपमें ये दोष आ गये हैं। सिनेमासम्बन्धी पत्रोंको पढ़ना और उनमें अभिनेत्रियोंके चित्रोंका बार-बार देखना भी पतनमें बड़ा कारण है। महाभारतमें कहा गया है—

वस्त्रमापस्तिलान् भूमिं गन्धो वासयते यथा।
पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः॥
असतां दर्शनात् स्पर्शात् संजल्पाच्च सहासनात्।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः॥

(वनपर्व १।२३,३८)

'जैसे पुष्पोंकी गन्ध अपने सम्पर्कमें आनेपर वस्त्र, जल, तिल (तैल) और भूमिको उसी प्रकारकी गन्धसे भर देती है, वैसे ही मनुष्यमें संसर्गजनित गुण (या दोष) आ जाते हैं।'

'बुरे मनुष्योंके दर्शनसे, स्पर्शसे, उनके साथ बात-चीत करनेसे तथा एक आसनपर बैठनेसे धार्मिक आचरण नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य किसी अच्छे कर्ममें सफल नहीं हो पाते।'

भगवान्‌की बड़ी कृपा समझिये, जो आपको अपने पतनका ध्यान हो आया। अब आप नीचे लिखी प्रतिज्ञा कीजिये—

(१) कभी सिनेमा नहीं देखेंगे।

(२) सिनेमासम्बन्धी पत्र, गंदे उपन्यास, नाटक या अन्य गंदी पुस्तकें नहीं पढ़ेंगे।

(३) स्त्रियोंके चित्र नहीं देखेंगे। स्त्रियोंके अङ्गोंका वर्णन न करेंगे, न सुनेंगे।

(४) नित्य प्रातःकाल और सायंकाल संध्याके उपरान्त गायत्रीकी कम-से-कम एक माला (१०८ मन्त्र) का जप अवश्य करेंगे और सूर्यभगवान्से सच्चरित्रता प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करेंगे।

(५) प्रतिदिन गीताके एक अध्यायका अर्थसहित पाठ करेंगे।

(६) शौकीनी तथा विलासिताका त्याग करेंगे।

(७) जिनके सङ्गसे आपमें ये दोष आये हैं, उनका सङ्ग त्याग देंगे। इसका अर्थ यह नहीं कि उनसे वैर-विरोध करें या उनका अपमान-तिरस्कार करें; बल्कि उनका मनसे हित चाहते हुए ही उनके सङ्गका त्याग करें।

(८) नित्य भगवान्की प्रार्थना करें।

(९) खर्चका हिसाब रखें। पिताजीसे खर्चके लिये आपको जो मिलता है, उसमेंसे कुछ बचायें और उसे किसी गरीबकी भलाईके लिये खर्च करें।

(१०) पिताजीके आदेशानुसार कारोबार देखनेमें समय लगायें और मन लगाकर काम करें।

(११) कभी निकम्मे न रहें। शेष भगवत्कृपा।

★

भगवान्‌की शक्ति ही प्रकृति है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। उत्तर विलम्बसे जा रहा है, क्षमा कीजियेगा। आपके प्रश्नोंके उत्तर नीचे लिखे जाते हैं—

(१) भगवान्‌का सगुण स्वरूप सविशेष यानी नित्य शक्तियुक्त ही है। हम चाहे भगवान् लक्ष्मी-नारायण, गौरी-शंकर, सीता-राम, राधा-कृष्णके युगल विग्रहका पूजन करें या केवल भगवान् नारायण, शंकर, राम या श्रीकृष्णका। जहाँ भगवान् सगुण-साकार हैं, वहीं उनकी शक्ति भी साथ हैं और उन्हींको लेकर भगवान्‌की सारी लीलाएँ होती हैं। 'गौरतेजके बिना केवल श्यामतेजकी समाराधनासे पाप लगता है'—तन्त्रकी यह बात ठीक ही है; क्योंकि बिना शक्तिके शक्तिमान्‌का आराधन हो ही नहीं सकता। उसका अस्तित्व ही शक्तिपर निर्भर है। शक्ति है तो शक्तिमान् है और शक्तिमान् है तो शक्ति है। एकके बिना दूसरेका अभाव है तथा शक्ति और शक्तिमान् उसी प्रकार अभिन्न हैं, जैसे अग्नि और उसकी दाहिका-शक्ति तथा सूर्य और उसकी प्रकाश-शक्ति।

(२) भगवान्‌की शक्तिका नाम ही 'प्रकृति' या 'योगमाया' है। इनके कई स्वरूप और स्तर हैं। परमोज्ज्वल भगवत्स्वरूप भी प्रकृति है। जगत्‌को सृजन करनेवाली तथा पालन और संहार करनेवाली भी प्रकृति है, जगत्‌के समस्त जीवोंको मोहित करनेवाली भी प्रकृति है और मोहसे मुक्त करके भगवान्‌तक पहुँचानेवाली भी प्रकृति है। भगवान्‌की एक ही प्रकृति या शक्तिके ये विभिन्न लीलास्वरूप हैं। योगमाया, स्वमाया, माया, मलिना माया आदि भी इस शक्तिके ही विभिन्न लीलानुरूप नामान्तर हैं।

(३) जहाँ भगवान्‌की शक्तिका कार्य नहीं होता, वहाँ भगवान्‌का निर्गुण स्वरूप है और जहाँ शक्ति लीलायमान है, वहाँ भगवान् सगुण हैं। निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार एक ही भगवान्‌के विभिन्न स्वरूप हैं। सभी पूर्ण हैं। सब अलग-अलग भी पूर्ण हैं, सब एक साथ भी पूर्ण हैं।

(४) भगवान् विष्णु, शिव, नारायण, दुर्गा, राम, श्रीकृष्ण—सब एक ही भगवान्‌के विभिन्न लीलास्वरूप और लीला-नाम हैं। इनमेंसे एकको जो भजता है, वह सभीको भजता है। इनमें ऊँच-नीचकी भावना करना पाप है।

(५) वैकुण्ठ, स्वर्ग, नरक आदि निश्चित लोक हैं। वैकुण्ठ भगवान्‌का दिव्यलोक है और नित्य है। वहाँ गया हुआ जीव लौटता नहीं। स्वर्ग-नरकादि अनित्य हैं। कर्मानुसार जीव इन लोकोंमें जाते हैं। वहाँ वे उतने ही समयतक रहते हैं, जितने समयके लिये वहाँके योग्य पुण्य या पापका भोग होता है। भोग समाप्त होनेपर अवशेष कर्मभोगके लिये कर्मानुसार स्थूल योनि मिलती है। पुण्यात्माको पवित्र योनि और पापात्माको नीच योनिकी प्राप्ति होती है।

(६) भगवान्‌के दर्शन अवश्य हो सकते हैं। दर्शनका प्रधान उपाय है—अटल विश्वासयुक्त दर्शनकी उत्कट लालसा। भक्त जिस रूपमें भगवान्‌के दर्शन चाहता है, उसी रूपमें प्रभु उसे दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं। शेष भगवत्कृपा।

———★———

धनकी सार्थकता

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। उसे पढ़नेपर खेद हुआ। आपके पास धन है, भगवान्‌ने आपको दिया है; फिर आप उसे अपने गरीब सगे भाई-बहनोंकी तथा माता-पिताकी सेवामें लगानेमें इतना क्यों हिचकते हैं? आप यह क्यों मानते हैं कि 'मेरे धनपर इन लोगोंका क्या अधिकार है, मैं अपने बाल-बच्चोंके पालन-पोषणमें ही इसको क्यों न लगाऊँ। इन लोगोंको देकर क्यों धनको बर्बाद करूँ।' मुझे तो आपकी इस बुद्धिपर तरस आता है। सच्ची बात तो यह है कि भगवान्‌ने आपको जो विशेष धन, विशेष शक्ति या विशेष साधन दिये हैं, वे केवल दूसरोंकी सेवाके लिये ही दिये हैं। अपने प्राप्त साधनोंसे जो दूसरोंकी सेवा न करके, उन्हें सुख-सुविधा न देकर केवल अपने या अपने कुटुम्बके लिये ही उनका उपयोग करता है, वह तो ईश्वरको धोखा देता है। आपके धनपर प्राणिमात्रका अधिकार है। सबको उनका प्राप्य हिस्सा देकर जो बचा हुआ खाता है, वह अमृत खाता है। पर जो केवल अपने लिये ही कमाता-खाता है, वह तो पाप खाता है। उसका जीवन ही पापमय है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(३। १३,१६)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष समस्त पापोंसे छूट जाते हैं; पर जो पापात्मालोग अपने लिये ही पकाते (कमाते-खाते) हैं, वे तो पाप ही खाते हैं।' 'जो पुरुष इस प्रकार प्रवर्तित सृष्टिचक्रके अनुसार बर्ताव नहीं करता, वह इन्द्रियाराम पाप-जीवन मनुष्य तो व्यर्थ ही जीता है।'

इसलिये उचित तो यह है कि आप प्राणिमात्रकी सेवामें अपना धन लगायें और उसीमें अपना सौभाग्य समझें। फिर आपके जो भाई गरीब हैं, आपकी जिन बहनोंको कष्ट है, आपके जो वृद्ध माता-पिता हैं, उनकी सेवा करना तो आपका प्रधान धर्म है। आपने लिखा, माता-पिता आपकी अपेक्षा आपके अन्य भाइयोंसे अधिक स्नेह करते हैं, उनका पक्ष करते हैं और भाई-बहन भी आपके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते। यदि ऐसी बात है तो वे भूल करते हैं। उन्हें यह नहीं करना चाहिये। यदि वे मेरी बात मानें तो मैं उनसे प्रार्थना करूँगा कि आप उनके साथ चाहे जितना रूखा बर्ताव करें, आपको सम्पन्न और सुखी देखकर माता-पिताको सुखी होना चाहिये तथा आपके प्रति स्नेह करना चाहिये और भाई-बहनोंको भी—अपने दुःखोंको अपने कियेका फल मानकर आपको न कोसना चाहिये न आपके साथ बुरा बर्ताव ही करना चाहिये। बल्कि यह समझकर कि हम चाहे दुःखी हैं, हमारे बाल-बच्चे चाहे कष्ट पाते हैं, पर हमारा एक भाई और उसके बाल-बच्चे तो सुखी हैं। हमें उसके सुखसे सुखी होना चाहिये और आपके साथ उन्हें उत्तम-से-उत्तम प्रेमका व्यवहार करना चाहिये। परंतु जरा आप सोचिये, उनका ऐसा व्यवहार क्यों है और उसमें आप तथा आपका व्यवहार कहाँतक कारण है? पहले माता-पिताको लीजिये। आपके पास लाखों रुपये हैं, खेत हैं, सम्पत्ति है, मोटर है,

घरके मकान हैं, आपके घरमें दसों नौकर हैं। आपके माता-पिता वृद्ध हैं और वे अपने दूसरे गरीब लड़कोंके साथ गरीबीसे रहते हैं। वे ही उनको खानेको देते हैं। आप न उनको खानेको देते हैं न कभी उनका आदर-सत्कार करते हैं, बल्कि अपने धनपर उनका जरा भी अधिकार नहीं मानते, उनकी सेवामें कुछ भी लगाना आप धनकी बर्बादी समझते हैं और यह बात आप उन्हें सुना भी देते हैं। इतना होनेपर भी वे बेचारे आपको शाप नहीं देते, केवल अपने दूसरे लड़कोंके पक्षमें कुछ कह देते हैं तो क्या यह उनका अपराध है ? माँ-बापके लिये सभी बच्चे एक-से हैं; पर जो गरीब, दुःखी और संकटग्रस्त हैं, उनके प्रति उनकी अधिक सहानुभूति होना स्वाभाविक है। आप मौज-मजा करें, आपके बालक परम सुख-स्वच्छन्दतासे रहें और उनकी आँखोंके सामने उन्हींके दो लड़के, उनके बच्चे तथा पुत्रियाँ दाने-दानेको तरसें तथा आप उनको कुछ भी देनेकी बात तो अलग रही, मीठी वाणीसे बात-चीत भी न करें; फिर आप कैसे आशा कर सकते हैं कि भाइयोंका, बहनोंका तथा माता-पिताका बर्ताव आपके साथ अच्छा हो। वे तो बेचारे दुःखी हैं। एक बात याद रखनी चाहिये। विपत्तिकालमें मनुष्य अपने आत्मीय स्वजनोंसे विशेष आशा रखता है। सम्पत्-कालमें उनसे कोई न बोले तो उन्हें दुःख नहीं होता, पर विपत्तिकालमें यदि भूलसे भी स्वजन नहीं बोलता तो विपत्तिग्रस्त मनुष्यको ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी दुरवस्थाके कारण यह उपेक्षा की गयी है। इसीसे तुलसीदासजीने कहा है—***'बिपति काल कर सतगुन नेहा'***—विपत्तिकालमें सौगुना प्रेम करना चाहिये। फिर आप तो अपने गरीब सगे भाई-बहनोंको जली-कटी भी सुनाते हैं ! यह आपका परम दुर्भाग्य है। आपका काम था, अपना सर्वस्व देकर उनको सुखी करना। इससे आपको उनका

ऐसा आशीर्वाद मिलता कि जिससे आपका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल और सुखमय हो जाता; परंतु आप जो कर रहे हैं, यह तो महापाप है और इसका परिणाम आपके लिये निश्चित ही बहुत दुःखदायी होगा। आपका यह धन फिर किस काम आयेगा ? ऐसे धनको धिक्कार है ! आप निश्चित समझिये, यदि आपने अपना व्यवहार नहीं बदला तो यह धन आपको भीषण नरकाग्निमें जलानेका कारण बनेगा।

महाभारतमें कहा गया है—

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः
सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या॥

(उद्योगपर्व ३३। ७०)

'तात ! गृहस्थधर्ममें स्थित एवं लक्ष्मीसे सेवित आपके घरमें इन चार प्रकारके मनुष्योंको सदा आदरपूर्वक रखना चाहिये—अपने कुटुम्बका वृद्ध पुरुष, संकटमें पड़ा हुआ उच्च कुलका मनुष्य, धनहीन मित्र और बिना संतानकी बहन।'

अतएव मेरा आपसे साग्रह निवेदन है कि आप अपने गंदे और तुच्छ विचारोंको बदलिये। इनकी सेवासे आपका धन बर्बाद नहीं होगा, बल्कि इसीसे उसकी सार्थकता होगी। अपनी पत्नीको भी समझाइये। खुले दिलसे सेवा करके पिता-माताका अमोघ आशीर्वाद और भाई-बहनोंकी सद्भावना प्राप्त कीजिये। उन्हें हर तरहसे सुखी करनेमें ही आपका कल्याण है। भगवान्‌की कृपासे आपके पास साधन हैं, इन साधनोंका सदुपयोग कीजिये।

—★—

सच्चे प्रेमका व्यवहार कीजिये !

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। मेरे पत्रके उत्तरमें आपका पत्र मिला। मेरी बातोंसे आपको साहस, धैर्य, शान्ति और उत्साह मिला—यह आनन्दकी बात है। आप प्रेमपूर्ण बर्ताव रखते हैं और रखेंगे, यह बड़ी अच्छी बात है। मैं चाहता हूँ—केवल बर्ताव ही नहीं, आप सचमुच हृदयसे प्रेम करें और पति-पत्नीवत् व्यवहार करें। बहुत अंशमें यही ठीक है कि उनसे भूल नहीं हुई होगी, पर यदि हो भी गयी है तो आप अपने विशुद्ध प्रेमसे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दें, जिससे भविष्यमें ऐसी कोई भूल उनसे न हो। उनको प्रेमके हाथका सहारा देकर बचा लीजिये, धक्का कभी न दीजिये। यही उनके प्रति आपका सच्चा सद्व्यवहार होगा। इससे ईश्वर आपपर बहुत प्रसन्न होंगे। किसीपर गिरनेका संदेह ही नहीं करना चाहिये, इसीमें लाभ है, पर यदि कदाचित् कोई कभी पैर फिसलकर गिर भी जाय तो उसे उठाना चाहिये, उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिये और उसको ऐसी स्थितिमें ला देना चाहिये कि जिससे पुनः उसके गिरनेकी सम्भावना ही न रहे। उनकी जगह आप होते तो क्या वे आपको त्याग देतीं, क्या यही उनका कर्तव्य होता ? अतएव मनसे उनके त्यागकी कल्पनाको छोड़ दीजिये। इसीसे आपका तथा उनका, दोनोंका जीवन सुखी हो जायगा। गीता-रामायणका अध्ययन स्वयं कीजिये, उनसे भी कराइये। दिलकी आगको निस्स्वार्थ प्रेमसे बुझाकर शान्त कर लीजिये। शेष भगवत्कृपा।

—★—

दुःख क्यों होते हैं ?

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिल गया था। उत्तर देरसे जा रहा है, क्षमा कीजियेगा। निवेदन यह है कि भक्तिकी प्राप्ति होनेके बाद तो सांसारिक दुःखोंकी इस रूपमें प्रतीति होती ही नहीं, जैसी इस समय हो रही है। भक्तोंको किसी प्रकारके दुःखका स्पर्श ही नहीं होता। दूसरोंकी दृष्टिमें समय-समयपर भक्तोंको भी दुःखभोग होता दिखायी देता है, पर वस्तुतः उनको कोई दुःख नहीं होता। बिल्ली जब अपने बच्चेको दाँतोंसे पकड़कर एक जगहसे दूसरी जगह ले जाती है, तब उस बच्चेको कोई भी दुःख नहीं होता, वरं उसे सुख ही होता है, पर यदि वही बिल्ली चूहेको पकड़ ले तो चूहेके प्राण छटपटाने लगते हैं; इसी प्रकार भक्तपर जो दुःख आया हुआ दीखता है, वह उसके प्रति भगवान्का प्यारमात्र होता है। भक्तको तो अपने हृदयमें तथा बाहर भी नित्य-निरन्तर दुःखाभासशून्य अथवा सुखस्वरूप भगवान्का ही स्पर्श प्राप्त होता रहता है, वह तो उन्हींमें डूबा हुआ अपनी सारी इन्द्रियोंका विषय सदा उन्हींको बनाता रहता है; फिर कोई दुःख उसे कैसे सता सकता है।

सांसारिक दुःख उन्हींको होते हैं, जो यथार्थ सुखकी नहीं, किंतु दुःखसे भरी स्थितिको ही सुख समझकर उसकी प्राप्तिके लिये धन, मान, सम्पत्ति, कीर्ति आदिकी अपेक्षा करते हैं और इन्हींकी प्राप्तिके लिये यत्न करते हैं। सुखके नहीं, वरं मिथ्या सुखाभासके पीछे पागल रहनेवालोंकी यही स्थिति होती है। इसमें कभी और कहीं भी सुख नहीं है, दुःख-ही-दुःख है—**'दुःखालयम्'**, **'असुखम्'** है सदा यह।

जो वास्तविक परम सुख है, वह किसी बाहरी नश्वर और परिवर्तनशील वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखता; इसीलिये धनी-दरिद्र, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष, विद्वान्-मूर्ख, ऊँच-नीच—सभी इसके अधिकारी हैं। आवश्यकता है बाहरकी ओरसे मुख मोड़कर अन्तर्मुख होनेकी—उस परम सुखकी ओर देखनेकी—अतुल अनन्त सुख समुद्र भगवान्‌के सम्मुख होनेकी। जहाँ भगवान्‌के सम्मुख हुआ कि जीवके सारे पाप-ताप, दुःख-क्लेश कटे। ऐसी अवस्थामें सांसारिक सुखकी इच्छा नहीं रहती और इस सांसारिक सुखकी इच्छाके न रहनेपर जो सुख होता है, उसकी तुलना सांसारिक मनोऽभिलषित उच्च-से-उच्च वस्तुकी प्राप्तिसे होनेवाले सुखके साथ नहीं की जा सकती। उस भक्तिपरिप्लुत निष्काम भावसे उत्पन्न सुखको सूर्य और इस वस्तुजनित सुखको खद्योत कहें, तब भी तुलना ठीक नहीं होती।

जिस सुखमें अभाव है, अल्पता है और भी कुछ प्राप्त करनेकी आवश्यकता है, वहाँ कामना या स्पृहा रहेगी ही। जहाँ सुखकी स्पृहा है, वहीं दुःख है। '**नाल्पे सुखमस्ति** ।' पर जिसमें अपूर्णता नहीं है, अल्पता नहीं है और कुछ प्राप्त करनेकी आवश्यकताका बोध भी नहीं है, वहीं पूर्ण सुख है। इसीमें शान्तिका सागर लहराता है। इस परमानन्द-शान्तिसागरमें जो डुबकियाँ लगा रहे हैं, इस पूर्ण सुख-सुधा-समुद्रमें जो अवगाहन कर रहे हैं, उनके लिये किस सुखका कब अभाव होगा और किस दुःख-तापकी कब कैसे अनुभूति होगी।

अतएव आप यह निश्चय समझिये—जबतक सांसारिक वस्तुओंके अभावसे या अधिक प्राप्त करनेकी इच्छासे दुःख होता है, तबतक भक्ति-भास्करका अभ्युदय हुआ ही नहीं। जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार नहीं रहता, वैसे ही भक्तिका प्रादुर्भाव होनेपर

विषयान्धकार भी नष्ट हो जाता है। फिर विषयोंकी प्राप्तिमें हर्ष नहीं होता, उनके चले जाने या नष्ट हो जानेकी आशङ्कासे द्वेष नहीं होता, मिलने न मिलनेकी या चले जानेकी कोई चिन्ता नहीं होती और गये हुए या नये विषयोंके लिये कोई आकाङ्क्षा नहीं होती।

जो ऐसा शुभाशुभका (लोकदृष्टिमें जन्म, उत्सव, धनप्राप्ति, मानप्राप्ति आदि शुभ माने जाते हैं और मृत्यु, धननाश, मान-कीर्तिका नाश आदि अशुभ माने जाते हैं—इन शुभाशुभसे जिसके मनमें किसी प्रकारका भी हर्ष-विषाद-द्वेष या प्राप्तिका मनोरथ नहीं होता) परित्यागी भक्तिमान् पुरुष है, वह मुझको प्रिय है—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

(गीता १२।१७)

इस विवेचनपर आप फिर विचार कीजिये, फिर खोजिये—दुःखका कारण क्या है और उससे छूटनेका उपाय क्या है? यह निश्चय मानिये—भोगोंकी अप्राप्तिमें यदि दुःख है तो भोगोंकी प्राप्ति होनेपर वह दुःख कभी घटेगा या मिटेगा नहीं; जैसे मलसे धोनेपर मल नहीं दूर होता, वैसे ही भोगप्राप्तिजनित सुखसे भोगकी अप्राप्तिजनित दुःख नहीं मिट सकता। कीचड़से कीचड़ धुलता नहीं, वरं और भी बढ़ता है। अतएव यदि दुःखसे यथार्थमें छूटना हो तो भगवान्‌के आदेशका पालन करके उनका भजन कीजिये—एकमात्र यही उपाय है। भगवान्‌ने कहा है—

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥' (गीता ९।३३)

'इस अनित्य और सुखरहित लोकको प्राप्त करके (यदि सुख चाहते हो तो) मुझको भजो।'

═★═

धनका दुरुपयोग

प्रिय महोदय! आपका पत्र मिला। धन्यवाद। जहाँतक मेरा अनुमान है, इस समय अधिकांश धनियोंके धनका सदुपयोग नहीं हो रहा है। इसका एक कारण यह भी है कि इस समयका धन ही प्रायः 'अधर्मोपार्जित' है। अधर्मसे कमाये हुए धनका यथार्थ धर्मकार्यमें सद्व्यय होना बहुत कठिन है। तथापि यदि सत्परामर्श मिल जाय और उसके अनुसार कार्य हो तो धनके उपयोगमें बहुत कुछ सुधार हो सकता है और धनके दुरुपयोगद्वारा जो एक-से-एक प्रश्रय पाकर पापवृक्षकी शाखाएँ बढ़ रही हैं, वे बहुत अंशोंमें रुक सकती हैं तथा सदुपयोग होनेसे अन्तःकरणकी शुद्धिमें भी सहायता मिल सकती है। आपका लिखना उचित है और मेरी समझसे दुरुपयोगके इस समय प्रधानतया निम्नलिखित मार्ग हैं—

(१) खर्चीला विलासितामय जीवन, जीवनमें अनावश्यक आवश्यकताओंका बढ़ा लेना, मौज-शौककी इच्छा, बाहरी दिखावेका प्रसार, इन सब कार्योंके लिये वस्तुओंका अमर्यादसंग्रह-परिग्रह, खान-पानका असंयम, परिश्रमशीलताका अभाव और हाथसे काम न करनेकी प्रवृत्ति तथा उसमें असभ्यता एवं लज्जाका बोध आदि-आदि।

(२) विवाहादि अवसरोंपर अनेक प्रकारसे व्यर्थ आडम्बरमें खर्च।

(३) सिनेमा तथा रेडियोका बेहद प्रचार। इसमें धनका नाश तो है ही, चरित्रका भी महान् नाश हो रहा है।

(४) नास्तिकताको बढ़ानेवाली, अधार्मिक, घोर अनैतिक और

युवक-युवतियोंको साथ रखकर उनका नैतिक पतन करानेवाली तथा केवल अर्थपरक शिक्षा और सभ्यताके प्रचारमें सहायता करना।

(५) चोरी छिपाने या अधिक-से-अधिक नाजायज तरीकेसे धन प्राप्त करनेकी इच्छासे घूस देना-लेना। इससे धनके दुरुपयोगके साथ ही समाजका भयानक नैतिक पतन हो रहा है।

(६) नीच स्वार्थ, मानसिक दुर्बलता या अन्य किन्हीं कारणोंसे सरकार तथा सरकारी अधिकारियोंकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये उन लोगोंके मतानुसार धनका अयुक्त उपयोग।

(७) किसी भी कारणसे ऐसे कार्योंको करना, जिनमें जीवहिंसा होती हो, मांस-मद्यका प्रचार-प्रसार होता हो, अनैतिकता बढ़ती हो और नास्तिकता फैलती हो; फिल्म तैयार करानेका कार्य, सिनेमा-प्रदर्शनालयोंका निर्माण, मांस-मद्यका या जिनमें मांस-मद्यका प्रयोग होता हो—ऐसी वस्तुओंका व्यापार, नास्तिकता और अधर्म बढ़ानेवाले साहित्यका प्रकाशन या ऐसे प्रकाशनमें सहायता करना, परस्पर द्वेष बढ़ानेवाली पार्टियोंकी सहायता करना, ऐसे कामोंसे धन कमाना और धन कमानेके लिये पूँजी लगाना, ऐसे काम स्वयं करना, दूसरेको सहायता या प्रोत्साहन देना—इन सभी कार्योंमें होनेवाला व्यय धनका दुरुपयोग है।

(८) प्रति पाँच वर्षोंपर होनेवाला चुनाव भी, जिसमें करोड़ों रुपये व्यय होते हैं, इस 'जनतन्त्रात्मक' कहलानेवाली प्रणालीका ही पाप है। इसमें अवाञ्छित लोगोंकी—जो धर्मके विरोधी हैं, असदाचारी हैं, नैतिक दृष्टिसे गिरे हुए हैं, भगवान्‌को नहीं मानते, दुर्बलहृदय हैं, अत्यन्त निर्दय हैं, शासकपदके अनधिकारी हैं, मूर्ख हैं, विपरीत प्रयत्न करके या चुप रहकर जो गोवधका पाप बंद करानेमें असमर्थ हैं, शास्त्र

और धर्मपर आक्रमण करनेवाले कानूनोंके प्रवर्तक, सहायक या मूक समर्थक हैं, जाति और धर्मके नामपर परस्पर द्वेष फैलानेवाले हैं, अपने विशुद्ध धर्मपर दृढ़तापूर्वक कायम रहनेकी शक्तिसे रहित हैं और मानव-धर्मको नहीं मानते—धनसे सहायता करना भी धनका महान् दुरुपयोग है।

इन सब बातोंपर खयाल करके यदि धनवान् लोग धन कमानेमें पाप करना छोड़कर अनुचित स्वार्थ, विलासिता, शौकीनी, आडम्बरपूर्ण जीवन, आरामतलबी, परिश्रममें लज्जा और मानसिक दुर्बलता आदि दोषोंका त्याग करके, गरीबोंकी श्रेणीसे भिन्न अपनेको दूसरी श्रेणी या दूसरी जातिका आदमी न समझकर, शास्त्रानुमोदितरूपसे विनयपूर्वक यज्ञकी भावनासे धनका सदुपयोग करने लगें तो उनका जीवन सुखमय हो जाय और परलोक उज्ज्वल हो जाय, समाजके सामने उच्च आदर्शकी स्थापना हो, मानव-जीवन सफलताकी ओर आगे बढ़ने लगे तथा यहाँ जो आज 'कम्यूनिज्म' का एक भयानक आतङ्क फैला हुआ है, वह सहजमें दूर हो जाय।

आजकल संत श्रीविनोबाजी भावे भूमिके मालिकोंसे सात्त्विकताके साथ भूमि लेकर, जिनके पास भूमि नहीं है, उनको यथायोग्य वितरण करनेका जो महान् 'भूमिदान-यज्ञ' कर रहे हैं, वह बहुत ही उत्तम कार्य तो है ही, साथ ही 'कम्यूनिज्म' के पापकी जड़ भी काटनेवाला है। सारा धन भगवान्‌का है, भगवान्‌के सब हैं, सबके भगवान् हैं, अतएव अपने धनमेंसे सबको यथायोग्य हिस्सा बाँटकर बचे हुएका अपने लिये उपयोग करना यज्ञशिष्ट अमृतका सेवन करना है। पर जो केवल अपने लिये ही कमाता-खाता है, वह तो दूसरोंका हक मारकर मौज करना चाहता है, वह तो पाप ही कमाता और पाप ही खाता है। उसका जीवन

पाप-जीवन है, और पाप-जीवनको पापका फल ताप निश्चय मिलेगा ही। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(गीता ३। १३)

'यज्ञसे (सबको उनका यथायोग्य हिस्सा सात्त्विकताके साथ देकर) बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सारे पापोंसे छूट जाते हैं; और जो पापी लोग केवल अपने लिये ही पकाते—(कमाते) हैं, वे तो पाप ही खाते हैं।' शेष भगवत्कृपा।

★

गृहस्थीकी बेड़ी

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने लिखा 'जिसकी बचपनसे ही संसारसे प्रीति नहीं है, भगवच्चर्चामें जिसका मन लगता है, संसारसे जिसको बार-बार घृणा होती है और जिसका मन परमात्माकी ओर आकर्षित होता है, परंतु गृहस्थाश्रमकी बेड़ी जिसके पाँवमें पड़ी है, वह क्या करे ?' इसके उत्तरमें निवेदन है कि जब संसारमें प्रीति नहीं है और परमात्माकी ओर मन आकर्षित होता है, तब गृहस्थाश्रमकी बेड़ीके लिये चिन्ता क्यों करनी चाहिये। बेड़ी तो तभीतक है, जबतक मोह है। मनुष्य जब भगवान्‌का हो जाता है, तब दूसरे सारे बन्धन अपने-आप ही कट जाते हैं। श्रीब्रह्माजीने भगवान्‌से कहा है—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३६)

'श्रीकृष्ण ! जबतक मनुष्य तुम्हारा नहीं हो जाता, तभीतक राग आदि चोर पीछे लगे रहते हैं, तभीतक घर कैदखानेकी तरह उसे बंदी बनाये रखता है और तभीतक मोहकी बेड़ी पैरोंमें जकड़ी रहती है।'

भगवान्‌का हो जानेपर तो घर भी भगवान्‌का मन्दिर है, घरका काम भगवान्‌की सेवा है, घरके आदमी भगवान्‌के दिये हुए सेव्यस्वरूप हैं या उनके रूपमें भगवान् ही अभिव्यक्त हैं और उनकी सेवा भगवान्‌की पूजा है। उनके प्रति कहीं ममता, आसक्ति या मोह नहीं है। भगवान्‌के लिये ही उनकी सेवा करनी है। ऐसी गृहस्थीमें बन्धन

कहाँ है ? चिन्ता सारी भगवान् करेंगे, कब, कैसे, क्या होगा, उसका विधान भगवान् करेंगे। उसका काम तो भगवान्‌का चिन्तन करते हुए अपने योग्य कर्मोंके द्वारा भगवान्‌के आज्ञानुसार उनकी सेवा करनामात्र है। संसारमें घृणा होनी चाहिये उसके भोग्यरूपसे। पर जब वह भगवद्रूप हो जाय, तब तो वह पूजाका पात्र है। जिसकी भगवान्‌में प्रीति है, संसारमें प्रीति नहीं है, वह संसारमें नहीं बँधता। घर बन्धन नहीं है, बन्धन है घरमें मेरापन। जबतक यह मेरापन है, तबतक वह 'घर' का है—'भगवान्' का नहीं। जहाँ भगवान्‌का हुआ, वहीं भगवान् उसके हुए। फिर घर 'उसका' नहीं रहता, न वह 'घरका' रहता है। घर भगवान्‌का है, वह भी भगवान्‌का है। फिर घरमें रहकर भी वह भगवान्‌के मन्दिरमें रहता है और अपने प्रत्येक कर्मसे भगवान्‌की सेवा करता है। इसके विपरीत घर-गृहस्थीको छोड़ भी दिया तो जंगलकी कुटियामें, पहननेकी कौपीनमें उसका मेरापन हो जायगा। उन्हींमें मन फँस जायगा और बन्धन हो जायगा। अतएव उन सज्जनको घरसे घृणा न करके घरकी आसक्ति और ममतासे घृणा करनी चाहिये और उनका त्याग करके घरमें रहते हुए ही अपनेको भगवान्‌का बना देना चाहिये। सदा भगवान्‌का स्मरण करते हुए भगवान्‌की सेवाबुद्धिसे ही सारे कर्म यथायोग्य करने चाहिये, फिर समस्त भवबन्धन आप ही कट जायँगे।

(२) जिसे अपने अनुकूल बनाना हो, हमें पहले उसके अनुकूल बनना चाहिये। उसकी भर्त्सना, समालोचना न करके उससे प्रेम करना चाहिये और उसकी अच्छी बातोंका हृदयसे तथा वाणीसे समर्थन करना चाहिये, उसकी सेवा तथा उसका हित करना चाहिये। जब उसके मनमें आपके प्रति आदर, प्रेम तथा सद्भाव उत्पन्न हो जाय, तब उपदेशके रूपमें नहीं, परामर्शके रूपमें उसे अच्छी-अच्छी बातें कहनी चाहिये।

उपदेशसे काम वहाँ हुआ करता है, जहाँ श्रद्धा होती है; नहीं तो उपदेशसे काम नहीं हुआ करता। ऐसे स्थानमें उपर्युक्त रीतिसे बर्ताव करना चाहिये तथा उसे जो बात समझानी हो, वह भी किसी इतिहास-कथाके रूपमें दूसरेके द्वारा समझानी चाहिये। यदि हम दूसरेको अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं तो अपने मनकी बात छोड़कर पहले उसके अनुकूल बन जाना चाहिये; फिर वह आप ही अनुकूल हो जायगा। यह उत्तम साधन है।

एक साधन यह है कि उसके दोष न देखकर गुणोंकी खोज करनी चाहिये और गुणोंकी मन-ही-मन प्रशंसा करते हुए उसके प्रति सदा सद्भावना करनी चाहिये। आपकी सद्भावनाका उसपर असर होगा और वह क्रमशः अनुकूल बनता चला जायगा। वशीकरणका मन्त्र प्रेम है; अधिकार-उपदेश आदि नहीं। और जहाँ प्रेम है, वहीं सुख है—यह निश्चित सिद्धान्त है।

——★——

भगवान्‌की शरणसे ही विघ्ननाश

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके पतिदेवकी मृत्युके बाद आपकी मुसीबतें और परीशानियाँ बढ़ती जा रही हैं, आपके घरवालोंके विरोधी विचार बढ़ते चले जा रहे हैं और आपको धर्मभ्रष्ट करनेका घृणित यत्न भी देवरके द्वारा हो रहा है—यह बड़े ही दुःखकी बात है। आजकल यह पाप समाजमें चारों ओर बढ़ रहा है। इसका बड़ा भारी बुरा परिणाम होगा। जो लोग किसी विधवा बहनको 'मूर्खतावश' दुःख देते हैं, वे भी नरकोंमें जाकर भयानक यन्त्रणा भोगते हैं और बुरी-से-बुरी पापयोनियोंमें जन्म लेकर दुःख भोगनेको बाध्य होते हैं; फिर जो लोग 'स्वार्थवश' या 'नीच विचार' से किसी विधवाको सताते हैं, उसकी तो कैसी दुर्गति होगी, इसे भगवान् ही जानते हैं। एक तो बेचारीको पतिवियोगका महान् दुःख और ऊपरसे सहानुभूतिके बदले घरवालोंका तथा आत्मीयोंका घृणित बर्ताव! घावपर घाव करनेवाले ऐसे लोग तो राक्षस हैं। आज हमारा समाज ऐसे राक्षसोंका क्रीडाक्षेत्र बन गया है। इन लोगोंको तो नियन्ताके दण्डका शिकार होना ही पड़ेगा। पर आप घबराइये नहीं। सर्वशक्तिमान् भगवान्‌पर विश्वास करके उनके शरण हो जाइये। वे सदा सब जगह मौजूद रहते हैं और जो सचाईके साथ उनके शरण हो जाता है, वे आश्चर्यजनकरूपसे उसकी तथा उसके धर्मकी निश्चय ही रक्षा करते हैं। आपने देवरको कई बार क्षमा किया, परंतु एक दिन उसे पीट दिया—यह बहुत अच्छा किया। ऐसे दुष्टों और पतितोंकी पता नहीं, कैसी नीच गति होगी। आप भगवान्‌के शरणापन्न होकर उनका भजन

करती रहें। द्रौपदीका चीर बढ़ानेवाले भगवान् आपकी अवश्य रक्षा करेंगे। भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।'

(गीता १८। ५८)

'तुम मुझमें चित्त लगाओ, फिर मेरी कृपासे सारे संकटोंसे सहज ही पार हो जाओगे।'

आपके पतिदेवका अन्तिम आदेश तथा स्वप्नादेश बहुत ही उत्तम है। आप उसीके अनुसार मुसीबतें उठाकर भी धर्मका पालन और बच्चोंका पालन-पोषण करती रहें। समझदारीसे काम निकालें। अपना अपराध करनेवालोंको क्षमा करें और अपनेपर संयम रखें। सचमुच यदि आप अपनेपर संयम रखती हुई भगवान्पर विश्वास रखेंगी तो भगवान्की दयासे कोई भी संकट आपको गिरा नहीं सकेगा। भगवान् आपके धर्मकी रक्षा करेंगे। अपराधीको मनसे क्षमा करें; परंतु सावधान रहें और कभी भी किसीका अनुचित प्रयत्न सहन न करें, डाँट दें।

——★——

पिताको राजी कीजिये या उनकी आज्ञा मानिये

सादर हरिस्मरण। पत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि सावित्रीके द्वारा सत्यवान्‌के वरण किये जानेके मूलमें पिताकी आज्ञा थी। सावित्री पिताकी आज्ञासे ही अपने योग्य वरको वरण करने गयी थी। स्वयंवरोंमें भी मूलतः पितृ-आज्ञा ही रहती थी। पिता जब स्वयं सुयोग्य वरका अन्वेषण नहीं कर सकता, तब वह कन्याको इसके लिये आज्ञा देता था। इसीसे कन्याके द्वारा किया हुआ वह वरण पिताको सहर्ष स्वीकार होता था। पर आपके प्रसङ्गमें ऐसी बात नहीं है। आपका वरण स्वेच्छाकृत है, जो हिंदू-दृष्टिसे अवैध है। अतएव इसमें धर्मतः सावित्रीका उदाहरण पूर्णरूपसे लागू नहीं होता। पर आपका मन दूसरेको स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं होता—यह एक बहुत कठिन प्रश्न है। वर्णके जन्मगत या कर्मगत होनेका विवादास्पद प्रश्न छोड़ दीजिये। मेरा मत तो इसमें आपके अनुकूल नहीं है। मैं तो विवाहादिके लिये जन्मकी ही प्रधानता मानता हूँ। अब इसके लिये सुन्दर उपाय तो दो ही हैं—या तो आप अपने पिताजीको समझाकर, उन्हें एक प्रकारका आपद्धर्म बतलाकर, अपनी करुण मानसिक स्थितिको उनके सामने रखकर—किसी उपायसे भी उन्हें आपके इच्छानुसार सम्बन्ध करनेके लिये तैयार कीजिये (यदि वे मेरी बात मानें तो मैं उन्हें परिस्थितिपर विचार करके आपके पक्षमें ही सम्मति दूँगा।) या आप अपनी बातको छोड़कर पिताजीके इच्छानुसार करनेके लिये तैयार हो जाइये।

आत्महत्या तो महापाप है, उसका तो विचार ही नहीं करना

चाहिये। आत्महत्यासे आत्माकी अशान्ति तथा दुःख-संकट बढ़ते हैं, किसी प्रकार भी घटते या मिटते नहीं। फिर वहाँ परतन्त्रता भी यहाँकी अपेक्षा अधिक हो सकती है। यहाँ पत्रव्यवहारकी सुविधा हो सकती है, पर वहाँ तो यह जाननेकी सुविधा भी किसीको नहीं होती कि कौन, किस लोकमें, कहाँ है। यह निश्चय है कि शरीरनाशसे आत्माका नाश नहीं होता—परलोक-पुनर्जन्म निश्चित हैं। उपर्युक्त दोनों बातें आप न कर सकें तो फिर भोग-विलासका मोह तथा आत्महत्याका विचार छोड़कर आपको दृढ़ताके साथ प्रसन्नतापूर्वक त्यागका असिधाराव्रत ग्रहण करना चाहिये। ऐसी स्थितिमें आप पिताजीसे स्पष्ट शब्दोंमें विनयपूर्वक निवेदन कर दीजिये कि 'मैं प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ कि मैं दूसरेके साथ विवाह नहीं कर सकती; अतः मैं प्रसन्नताके साथ आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करूँगी।' निश्चय करनेपर आपके लिये जीवनभर पवित्रताकी रक्षाके लिये कठोर संयमसे रहना अनिवार्य होगा। समय बहुत बुरा है, परिस्थिति पलटती है, मनुष्यके मनमें भाँति-भाँतिकी कमजोरियाँ भरी हैं, चारों ओर कुसङ्ग है, पुरुषसमाज पतितप्राय है और आजका मनका भाव सदा बना रहनेमें भी संदेह है। ऐसी दशामें आजीवन 'कुमारीव्रत' ग्रहण करनेका निर्णय बहुत सोच-विचार कर करना चाहिये। नहीं तो—पीछे और भी अधिक भयानक दुःख या पश्चात्ताप हो सकता है।

★

अपनी तपस्यासे पतित पतिको सुधारिये

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके पतिदेवका बर्ताव वास्तवमें अच्छा नहीं है। उसका प्रतीकार अवश्य होना चाहिये। पर आत्महत्या या घरसे निकल जाना उसका प्रतीकार नहीं है। उसका प्रतीकार तो है अपने त्याग, बलिदान, तप और सेवाके द्वारा उनके हृदयको बदल देना। कोई कैसा भी दुराचारी क्यों न हो—सद्भाव, सद्व्यवहार और तपस्यासे उसको बदला जा सकता है। आप उसीके लिये प्रयत्न करें। यद्यपि यह सत्य है कि जो पुरुष अपनी विवाहिता निर्दोष पत्नीका अनादर करता है, उसको सताता है, गाली देता है, मारता है, उसकी अवहेलना या उपेक्षा करके परस्त्रीमें प्रीति करता है और उसे खाने-पीनेको नहीं देता, वह बड़ा पाप करता है और इसके फलस्वरूप उसे भविष्यमें घोर दुःखोंमें फँसना पड़ेगा। उसके लोक-परलोक दोनों ही बिगड़ेंगे। परंतु पत्नीका धर्म तो यही है कि वह अपनी तपस्याके द्वारा उसको पवित्र बनाये, जिससे वह नरकाग्निका अधिकारी होकर भी साध्वी पत्नीके पुण्यसे पापमुक्त हो जाय और नरकोंसे बच जाय। ऐसी तपस्या भारतकी तपस्यामयी आर्य नारी ही कर सकती है!

———★———

भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये

सादर हरिस्मरण। पत्र मिला। किसी विवाहके अवसरपर आपके साथ बलपूर्वक दुराचार किया गया, यह बड़े खेदकी बात है। इससे पुरुषसमाजका घोर पतन प्रत्यक्ष हो जाता है। आपका इस पापसे दुःखी होना उचित ही है। आप इस पापका प्रायश्चित्त करना चाहती हैं, इसके उपाय हैं—महान् पश्चात्ताप तथा फिर कभी ऐसा न हो इसके लिये प्राणपणसे घोर प्रतिज्ञा। 'राम' नामकी सौ मालाका एक वर्षतक प्रतिदिन जप करना और भगवान्‌से कातर प्रार्थना करना।

पतिदेवके नाराज होने और भविष्यमें व्यवहार बिगड़नेकी आशङ्का बिलकुल न हो, तब तो उनसे सब बातें बतला दीजिये। पर ऐसी बात होनी है बहुत ही कठिन। नहीं तो भगवान्‌से अपने अपराधके लिये रोकर क्षमा माँगिये और इस चीजको किसीपर कभी प्रकट मत कीजिये। बच्चा आपका है, वह आपके पतिका ही है। भगवान्‌के भजनका प्रयत्न कीजिये और भगवान्‌से कातर प्रार्थना कीजिये। वस्तुतः परपुरुषसे परस्त्रीका और परस्त्रीसे परपुरुषका एकान्तमें मिलना ही महान् अनर्थका कारण होता है। इससे सदा बचना चाहिये।

★

व्यर्थ संदेह मत कीजिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपका यह लिखना कि आप अपने एक सहपाठीके द्वारा, जो पहले आपके साथ शत्रुता रखता था, यह सुनकर कि आपकी पत्नी दुश्चरित्रा हैं, दुःखी हैं, स्वाभाविक है। ऐसी बातें दुःखदायिनी तो होती ही हैं। परंतु जब आपकी पत्नी हर तरहसे अपनी सच्चरित्रताका आपको विश्वास दिलाती हैं, आपको कोई प्रमाण भी नहीं मिलता तथा आपकी आत्मा इसको स्वीकार भी नहीं करती, तब आप सहपाठीकी बातोंपर विश्वास करके क्यों स्वयं दुःखी होते हैं और क्यों बेचारी पत्नीको दुःखी करते हैं। आप ऐसा क्यों नहीं मान लेते कि आपके साथ पुरानी शत्रुता रखनेवाले उन सहपाठी महोदयने ही आपलोगोंके जीवनको दुःखी बनानेके लिये यह प्रपञ्च रचकर आपके मनमें भ्रम पैदा करनेका प्रयास किया है? सती-साध्वी पत्नीपर किसीके कहनेभरसे मिथ्या संदेह करके उसे दुःखी करना बड़ा पाप है और इससे बड़े-बड़े दुष्परिणाम होते हैं। अतएव आप संदेह छोड़कर सुखपूर्वक रहिये।

———★———

आडम्बरपूर्ण खर्चीले जीवनसे हानि

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। उत्तरमें देर हो गयी, इसके लिये क्षमा करें। आपने अपनी परिस्थिति लिखते हुए अभावोंका और उनके कारण होनेवाले कष्टोंका विस्तारसे उल्लेख किया, वह बिलकुल ठीक है। धनियोंकी देखा-देखी समाजमें प्रशंसा पानेका एक विलक्षण मोह जाग उठा है, जिसके कारण जीवनकी व्यर्थ आवश्यकताएँ बढ़ गयी हैं। खान-पान, कपड़े-लत्ते, जूते-चप्पल, तेल-साबुन, मोटर-विमान, सिनेमा-रेडियो, उच्च श्रेणियोंमें रेलयात्रा, क्लब-पार्टी, बढ़िया मकान, पल-पलमें छायाचित्र लेनेकी प्रवृत्ति, उच्च स्तरके रहन-सहन आदिमें मानो होड़ लग रही है। धनियोंमें परस्पर प्रतियोगिता है ही, गरीब असमर्थ लोग भी इसी चक्करमें पड़े हैं। इससे इतना दुःख बढ़ गया है कि जिसकी कोई सीमा नहीं है और वह अभी बढ़ता ही जा रहा है।

पहले साधारण गृहस्थजीवनमें लोग अपनी हैसियतके अनुसार पूजा-पर्वका महोत्सव, अतिथिसेवा, अपने जाति-समाजके अपनेसे गरीब भाइयोंकी सेवा-सहायता आदि करते थे। अधिक सम्पन्न लोग कूआँ, धर्मशाला आदि बनवाते थे। उसमें भी खर्च होता था, पर उससे लोकोपकार होता था—भूखोंको अन्न मिलता था, गरीबोंको आश्वासन मिलता था और देवपूजादिसे मनमें पवित्रता आती थी। उससे भोगप्रवृत्ति या विलासिताको आश्रय नहीं मिलता था। निजका खर्च कम-से-कम करनेमें और दूसरोंकी सेवामें अधिक-से-अधिक खर्च करनेमें होनेवाली प्रतियोगिता—ऐसी होड़ हानिकारक नहीं होती।

पर अब तो उच्च स्तरके जीवनमें इतने अभाव बढ़ गये हैं कि उनकी पूर्तिमें जीवनकी सारी कमाई ही पूरी नहीं हो जाती है, ऋणभार भी बढ़ता जाता है। इसीलिये नाना प्रकारके छल-कपट, चोरी-बेईमानी, झूठ-दगा करके धन कमानेकी चेष्टा होती है। अतिथिसेवा और परार्थ धन लगानेके लिये तो अवकाश ही नहीं रह गया है। अपना ही खर्च नहीं चलता, तब दूसरेकी सेवा कोई कैसे करे।

प्राचीन समाज-व्यवस्थाके शिथिल हो जानेसे सब ओर मनमानी हो रही है और व्यर्थकी बाबूगिरीमें व्ययभार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। एक ओर श्रमकी महिमा गायी जा रही है, दूसरी ओर पीढ़ियोंके श्रमिक लोग भी श्रम छोड़कर कलम पकड़नेमें गौरव मानने लगे हैं। शारीरिक श्रम मानो अप्रतिष्ठाका स्वरूप समझा जाने लगा है। सिनेमामें करोड़ों रुपये खर्च होते हैं और उससे समाजमें सदाचारका बड़ी बुरी तरहसे नाश हो रहा है, परंतु आवश्यक आमोद-प्रमोद और धनोत्पादक धंधेके नामपर उसकी पतनकारिणी प्रवृत्ति दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। भोगका आडम्बर, विलासकी लालसा और झूठी शौकीनी बढ़ रही है!

कुछ लोग मानते हैं कि समाजमें विलासिताकी वृद्धि अथवा उच्च स्तरका जीवन हमारी धनवृद्धिका लक्षण है; पर वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। धन नहीं बढ़ा है—बढ़ा है आडम्बर, बढ़ी है सादगीमें शर्म, बढ़ा है अनाचार-मिथ्याचार और कदाचारका व्यसन, बढ़ी है उच्छृङ्खलता और शौकीनी तथा झूठे दिखावेकी बेबसी, बढ़ा है आलस्य, प्रमाद और मोह तथा बढ़ी है अविवेकशीलता और स्वेच्छाचारिता! पहले जो धन सर्वसाधारणके लिये खर्च होता था, अब वह व्यक्तिगत भोगमें खर्च होता है। पहले धनव्ययसे किसीका भला होता था, अब उससे किसीका भला तो होता ही नहीं, अपनी भी हानि होती है।

अधिकांश शहरोंमें रहनेको स्थान नहीं हैं, बड़े-बड़े महल झुक रहे हैं, मोटरोंके मारे रास्ता नहीं मिलता, सिनेमाओंके संगीतोंसे आकाश भरा रहता है, चारों ओर बिजलीकी रोशनी जगमगाती है, खान-पानमें अनाप-शनाप व्यय होता है। इस प्रकार विलास और आडम्बरके समुद्रमें डूबे रहनेपर भी प्रायः किसीको भी सुख-शान्ति नहीं है। कुछ लोगोंको छोड़कर (वे कुछ लोग भी दूसरी तरहके दुःखोंसे पीड़ित हैं) शेष सभी अभावग्रस्त, दुःखी हैं। कहीं घरमें बीमारी है, पर दवाके लिये दाम नहीं है; कहीं नौकरी नहीं है, कहीं व्यापार नहीं चलता, कहीं बड़ी कन्याके विवाहकी चिन्ता है, कहीं बाल्कोंकी शिक्षाका भार वहन करना कठिन हो रहा है। जीवन कष्टों और दुःखोंका भण्डार बन रहा है, इतनेपर भी विलासिता और आडम्बरका खर्च तो करना ही पड़ेगा; क्योंकि जीवनके उच्च स्तरको कायम रखना है ! कैसी विडम्बना है !

इस दशामें अभावका नाश कैसे होगा और अभाव रहते दुःख मिटेगा कैसे ? महँगीकी राक्षसी तो मुँह बाये खड़ी ही है; पर इसमें भी यदि जीवन आडम्बरहीन और सादा हो तो अपेक्षाकृत बहुत कम खर्चमें काम चल सकता है और जीवनका दुःखभार बहुत कुछ हल्का हो सकता है; पर इस ओर प्रवृत्ति ही नहीं है।

आपकी परिस्थितिपर आप स्वयं ध्यान देकर देखिये—आपको यथार्थ अभाव कितना है और आडम्बरके लिये कल्पित अभाव कितना है। माना कि आजकल समय बहुत कठिन है; पर यदि आप आडम्बर छोड़ दें और समाजकी मिथ्या प्रशंसाका मोह अथवा इज्जत घटनेका भय त्यागकर अनावश्यक खर्चोंको कम कर दें तो मैं दावेके साथ कह सकता हूँ कि आपकी जितनी आमदनी है, उतनेमें आपका काम मजेमें चल सकता है। आपकी दृष्टिमें इसीलिये कोई-सा भी खर्च अनावश्यक

नहीं है कि आप झूठी तारीफके लोभमें उसको अपनाये हुए हैं। चार नौकरोंकी जगह एक नौकर रखें, मोटर निकाल दें, कम भाड़ेका छोटा मकान ले लें, सादे तथा सीधी सिलाईके कपड़े पहनें, साधारण साफ-सुथरी साड़ियाँ लेकर घरके लोग काम चलावें, तेल-साबुन आदि कम कर दें, सिनेमाको तो बिलकुल ही त्याग दें, मित्रोंको कभी दावत न दें, कुछ बचाकर उससे ऋणका भार कम करें, जिससे ब्याजका नुकसान कम हो जाय—इस प्रकार सब ओर कोर-कसर करनेसे खर्च घट सकता है और आप सुखी हो सकते हैं। यह दुःख तो आपका अपना ही खरीदा हुआ है, जो आपकी कोशिशसे ही मिट सकता है। साथ ही आतुर होकर विश्वासके साथ आप भगवत्प्रार्थना करें। प्रार्थनामें अमोघ शक्ति है। सच्ची विश्वासभरी प्रार्थना धैर्यके साथ निरन्तर होनेपर आपको भगवान्‌की ओरसे सद्‌बुद्धि, शक्ति, सम्पत्ति और सहज स्थिति अवश्य प्राप्त होगी। शेष भगवत्कृपा।

——★——

केवल भगवान्‌पर भरोसा कीजिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। मेरी तो यही राय है कि आप दूसरोंकी ओर ताकना छोड़कर, दूसरोंकी कृपासे आपका कार्य हो जायगा—इस आशाको त्यागकर, सर्वशक्तिमान्, आपके सहज सुहृद् भगवान्‌पर भरोसा करके, अपना साधारण काम करते रहिये। भगवान्‌की इच्छा होगी तो उसीमेंसे आपका कार्य सफल हो जायगा। अपने-आप कोई-न-कोई ऐसी योजना बन जायगी, जो आपके अभावोंको मिटा देगी। मैंने देखा है—बड़े-बड़े कार्य करनेपर भी और 'बस, बड़ी सफलता हो गयी'—ऐसा एक बार सामने दीख पड़नेपर भी परिणाममें असफलता होती है, उलटा परिणाम होता है और छोटे-से कार्यसे भी विलक्षण रीतिसे उद्देश्य सफल हो जाता है। कुछ ही दिनों पहलेकी बात है—एक परिवार बहुत चिन्तित था। उसके लिये उसके किसी सम्बन्धीने बड़ा व्यापार करवाया, खूब प्रयत्न किया; परंतु उसमें सफलता नहीं मिली। इसलिये वह काम बंद कर दिया गया। वह परिवार अपने पुराने छोटे-से व्यापारमें लगा रहा। उसने भगवान्‌को पुकारा और उसी छोटे-से व्यापारमेंसे ही कोई ऐसी योजना बन गयी कि थोड़े ही दिनोंमें वह परिवार अभावमुक्त होकर पर्याप्त साधन-सम्पन्न हो गया। डाली-पत्तोंको सींचनेसे क्या होगा ? जड़में पानी देना चाहिये, जिससे सारे डाली-पत्ते आप ही पनपेंगे और वृक्ष पुष्पित-फलित हो जायगा।

एक बात और है—मनुष्य किसीके पास भी किसी चाहसे यदि जाता है तो वह प्रायः सम्मान नहीं पाता। संसारकी सहानुभूति

चाहनेसे या माँगनेसे नहीं मिलती; उसकी ओरसे लापरवाह होनेपर—मुँह मोड़ लेनेपर मिला करती है। इसलिये द्वार-द्वार ठोकर न खाकर एक भगवान्का आश्रय लीजिये और उन्हींको पुकारकर अपने मनकी बात सुनाइये। दूसरे किसके सामने हृदय खोलेंगे ? कौन आपकी दुःख-कहानी सहानुभूतिके साथ सुनेगा ? किसके पास इतना समय और ऐसा हृदय है, जो आपके लिये कुछ करेगा ? एक भगवान् ही ऐसे हैं, जो पीड़ितों, दुःखियों, अभावग्रस्तों—और जिनको कोई भी नहीं जानता-मानता, कोई भी अपने पास बैठाकर दुःखकी कहानी सुनना नहीं चाहता—उनकी सारी दुःखगाथा सहानुभूतिसे सुनते हैं, उन्हें अपनाते हैं, उनकी सहायता करते हैं और उनके अभावोंको नाश करते हैं।

और यदि भगवान् ही चाहते हैं कि आपके अभाव बने रहें या आपकी मानी हुई सम्पत्ति, सुख-सुविधा, मान-इज्जत, संसारके प्रिय, आत्मीय और ममताकी वस्तुएँ आपके पास न रहें तो फिर किसीकी खुशामद करनेसे वह कैसे और कहाँसे दे देगा या बचा देगा ? आप सच मानिये—संसारकी प्रत्येक वस्तु भगवान्की है। आपका शरीर और आप भी भगवान्के हैं। जब भगवान् ही अपनी उस वस्तुको यहाँ नहीं रहने देना चाहते, वे ही जब आपकी भाषामें 'दया नहीं करते', उसको यहाँसे उठा लेना चाहते हैं, तब आप माया-मोह करके उसे क्यों पकड़े रखना चाहते हैं। आपको तो वह वस्तु केवल सेवाके लिये सौंपी गयी है, मालिक तो वे ही हैं। यदि वे अपनी चीजको ले लेना चाहते हैं तो इसमें आपको क्षोभ या विषाद क्यों होना चाहिये ? उनकी चीज उनके इच्छानुसार चाहे जैसे, चाहे जहाँ रहे, इसीमें आपको प्रसन्नता होनी चाहिये।

अतएव आप अपने मनकी इच्छा खुले दिलसे भगवान्‌के सामने रख दीजिये और उनसे कहिये कि वे जिस तरहसे, जिसमें आपका कल्याण समझें, वही करें। ऐसा न चाहकर यदि आप अपने मनकी ही बात चाहते हों तो भी अनन्य विश्वासपूर्वक केवल उन्हींको पुकारिये। वे या तो आपके मनकी बात कर देंगे या आपके मनसे उस बातको ही निकाल देंगे। दोनों ही हालतोंमें आपको वे अपना तो लेंगे ही। इसीका फल होगा—अचल सुख-शान्तिकी प्राप्ति। शेष भगवत्कृपा।

★

पाप करनेवाले क्यों मजे लूट रहे हैं ?

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला था। अस्वस्थताके कारण उत्तर लिखनेमें देर हो गयी, इसके लिये क्षमा करें। आप विस्तारके साथ उदाहरण देते हुए पूछते हैं कि 'भगवान्‌के सच्चे भक्त, ईमानदार, हककी कमाई खानेवाले और धर्मपर दृढ़ रहनेवाले लोग दीन और दुःखी क्यों पाये जाते हैं, जब कि सरासर धोखाधड़ी, बेईमानी और घूसखोरीसे धन हड़पनेवाले मजे लूट रहे हैं?'

आपका यह प्रश्न आज सचमुच बहुत व्यापक हो रहा है और यह बड़ा गम्भीर रूप धारण कर चुका है। प्रत्येक विचारशील सत्यान्वेषी पुरुषके अन्तरसे इस प्रश्नकी ध्वनि उठ रही है। वास्तवमें इस समय देशकी स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो रही है। समाजमें जो सम्मान एवं प्रतिष्ठाके पात्र समझे जाते हैं, उच्च कोटिके सामाजिक और राजनीतिक नेता कहलाते हैं, ऐसे लोगोंका भी नैतिक धरातल बहुत नीचा हो गया है। व्यापारीवर्ग भी ईमानदारी और सचाईकी कमाईसे पेट नहीं भरना चाहता। वह भी झूठ-कपट, धोखा-अन्याय—जैसे भी सम्भव हो, दूसरोंका हक मार लेनेमें ही गौरव और सम्मान समझने लगा है। सरकारी कर्मचारी तो और भी गिर गये हैं। ऊँचे अधिकारियोंतकका मन विचलित हो गया है। जहाँ जिसको जरा भी अवसर मिला, वह अन्यायसे पैसे कमानेमें अपना गौरव मानता है। सर्वत्र घूस और चोरबाजारी चल रही है। सरकारी करोंका बोझ और महँगी भी इसमें एक प्रधान कारण है। परंतु मुख्य वस्तु तो धर्ममें अनास्था ही है। देश और समाजका ऐसा व्यापक पतन पहले कभी नहीं देखा-सुना गया

था। अधर्मपूर्ण आसुरी वृत्तियोंका जब उत्थान होने लगता है, तब धर्म और दैवी वृत्तियोंका सहज ही ह्रास होता है। इस दशामें धर्मनिष्ठ एवं साधुस्वभावके व्यक्तियोंको लौकिक दृष्टिसे सहज ही दैन्य और दुःखका शिकार होना पड़े, इसमें क्या आश्चर्य है ?

परंतु यह विचारणीय है कि 'क्या वास्तवमें अधर्म, छल, कपट, अन्याय और बेईमानीकी राहपर चलनेवाले लोग सुखी हो सकते या मजा लूट सकते हैं ?' उत्तर एक ही है—'नहीं।' जो लोग इस समय अन्यायके पैसेपर गुलछर्रे उड़ाते हुए दिखायी दे रहे हैं, वह उनपर आनेवाली विपत्तिकी भूमिकामात्र है। जैसे कसाईके छूरेके नीचे जानेवाला बकरा पहले हरी-हरी घास खाता दिखायी देता है, वही दशा इन लोगोंकी समझिये। एक नृशंस डाकू किसी गृहस्थकी हत्या करके उसका धन लूट लेता है और उससे हलुआ-पूरी उड़ाता है। जिसने इतना ही देखा है और जो उसके भविष्यसे अनभिज्ञ है, वह समझता है कि डाकू बड़ा सुखी है और सुखकी प्राप्तिका मार्ग यह डकैती ही है। परंतु जब वही हत्यारा डाकू पकड़ा जाता है और उसे फाँसीकी सजा भोगनी पड़ती है, तब पता चलता है कि वास्तवमें वह सुख नहीं, वरं महान् दुःखका—आत्मविनाशका मार्ग था। संखिया मिले हुए लड्डू भी बड़े सुन्दर और मीठे लगते हैं, परंतु खानेवालोंको परिणाममें तो मृत्यु ही मिलती है। पापका प्रारम्भ आपातरमणीय हुआ करता है। वह पहले सुखदायक जान पड़ता है, परंतु पीछे भयानक दुःखोंके समुद्रमें गिरा देता है। फिर, एक बात और है, सुख-दुःख पूर्वकर्मोंके फल हैं—पूर्वकालमें अपने किये हुए ही कर्म प्रारब्ध बनकर सुख-दुःख भुगताते हैं। वर्तमानमें मिलनेवाला सुख इसी जन्मके इसी कर्मका फल नहीं है। अतएव जो लोग इस समय दूसरोंका धन अन्यायसे लेकर मजे

उड़ा रहे हैं, उनका यह सुख इस पापका फल नहीं है। वे इस पापको न करते तो भी वह सुख उन्हें मिलता ही—वरं और भी श्रेष्ठ तथा सुन्दर रूपमें निश्चय ही प्राप्त होता। इस पापका फल तो उन्हें आगे मिलेगा। वस्तुतः पाप करके उन्होंने अपने लिये भयंकर विपत्तिकी सामग्री ही तैयार की है। कुछ क्षणोंके सुखके लिये उन्होंने जिस अन्याय और अधर्मके पथपर पग बढ़ाया है, वह उन्हें अनन्त कल्पोंतक दुःख और यन्त्रणाके नरकमें सड़ानेवाला ही होगा। इस ओर कभी उनकी दृष्टि ही नहीं गयी है। वे उस डाकूकी भाँति ही धन पाकर खुशीमें फूल रहे हैं; फाँसीकी डोरी गलेमें पड़ेगी, इस बातकी ओर उनका ध्यान ही नहीं है। यहाँ मनुष्य छल-बल-कौशलसे दूसरोंकी आँखोंमें धूल झोंककर अपनेको निर्दोष सिद्ध कर सकते हैं; परंतु घट-घटव्यापी अन्तर्यामी परमात्माकी सर्वतोमुखी दृष्टिसे अपनेको छिपा लेना किसीके लिये भी सम्भव नहीं है। पापकर्म करनेवाले मनुष्यका क्षणभरका हृदयोल्लास उसके अनन्त युगोंतकके रोनेमें कारण बन जाता है।

जो सच्चे भक्त हैं, जिनका भगवान्में विश्वास है और जिनका जीवन भगवान्के लिये ही है, उनके मनमें तो लौकिक भोग-सुखोंकी कामना-इच्छा कभी होती ही नहीं। वे तो संसारके तमाम सुख-भोगोंको माया-मरीचिका मानकर उनकी ओर दृष्टि ही नहीं डालते और नित्य-निरन्तर परम मधुर, दिव्यातिदिव्य भगवदीय रसका समास्वादन करना चाहते हैं। वे अपने जीवनको, जीवनके सारे सुखोंको—सर्वस्वको अपने परम सर्वस्व प्रभुके अरुण चरण-कमल-युगलपर न्योछावरकर कृतार्थ हो जाते हैं। उनका परम, चरम और अनुपम सुख अपने प्राणाधिक भगवान्की स्मृति, सेवा

और उनके प्रसन्नता-सम्पादनमें ही है। वे संसारके सुख-दुःखोंकी कुछ भी परवा नहीं करते। यहाँके सुखोंके लिये उनके मनमें स्पृहा नहीं होती, दुःखोंसे उन्हें उद्वेग नहीं होता। श्रीभगवान्‌ने अपने ऐसे प्रिय भक्तोंका लक्षण बतलाते हुए गीताके बारहवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें कहा है—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

'जो न तो (सांसारिक दृष्टिसे अनुकूल मानी जानेवाली वस्तुके प्राप्त होनेपर) हर्षित होता है, न (प्रतिकूल वस्तुसे) द्वेष करता है, न (अनुकूलके नाशका) शोच करता है और न (प्रतिकूलके नाश और अनुकूलकी प्राप्तिकी) आकाङ्क्षा करता है—शुभ या अशुभ दोनोंको ही (मनसे) त्याग करनेवाला है, वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।'

यही बात सच्चे धर्मनिष्ठके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। धर्मनिष्ठ पुरुष किसी भी भय, प्रलोभन और प्राण जानेकी स्थिति होनेपर भी धर्मका त्याग नहीं करता। धर्मके लिये बलिदान हो जानेमें ही तो उसके लिये गौरव है—वही तो सच्ची धर्मनिष्ठा है। यह अग्निपरीक्षा है, जिसमें धर्मनिष्ठ पुरुष सगौरव अपनेको झोंक देता है। यह परीक्षाका समय सदा नहीं रहता। इस अग्निपरीक्षामें तपाये हुए स्वर्णकी भाँति खरा उतरनेवाला मनुष्य देवताओंतकके आदरका पात्र होता है तथा भगवान्‌का तो हृदयहार बन जाता है। रन्तिदेव, शिबि, हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर आदि इस धर्मनिष्ठाकी अग्निपरीक्षामें उत्तीर्ण होनेके कारण ही अचलकीर्ति तथा भगवान्‌के प्रिय हो सके हैं। ऐसे धर्मात्मा भक्त ही अक्षय सुख, शाश्वती शान्ति और श्रीभगवान्‌के परमधामके भागी होते हैं। वे ही पुरुष इस जगत्‌में धन्य हैं जो धर्म और भगवान्‌के लिये सहर्ष कष्टोंका वरण करते हैं। शेष भगवत्कृपा।

संतान दुःखमें ही हेतु है

सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने संतान न होनेके कारण अत्यन्त दीनता प्रकट करते हुए जो लिखा कि 'मैं इस दुःखसे सदा पीड़ित रहता हूँ, मेरी आत्माको क्षणभरके लिये भी शान्ति नहीं मिलती।' वह ठीक ही है। जब मनुष्य प्रबल रूपसे किसी अभावका अनुभव करने लगता है, तब उसे अशान्ति तथा दुःख होता ही है। पर यह दुःख विचारसे टल सकता है। यह एक प्रकारका मोह है। संतानवाले सब सुखी हैं, ऐसी बात नहीं है। आजकल तो कुलको उज्ज्वल करनेवाली आज्ञाकारी संतानोंकी संख्या ही घटती जा रही है। सुखका हेतु मनका विचार है, कोई वस्तु नहीं है; आप मनमें यदि ऐसा निश्चय कर लें कि 'भगवान्‌ने मेरा कल्याण इसीमें सोचा है कि मेरे संतान न हो।' तो आपका दुःख मिट सकता है। सच कहा जाय तो यही बात है कि संतान होनेपर मोहकी फाँसी और भी गहरी लग जाती है। फिर मानव-जीवनका प्रधान उद्देश्य जो भगवत्प्राप्ति है, उसके सफल होनेमें और भी बाधा पड़ जाती है। संसार-सागरके भँवरमें जीवन-नौका फँस जाती है। जिनको संतान नहीं हैं, वे बिना बखेड़े भगवान्‌की ओर लग सकते हैं। रही वंश चलनेकी बात, सो यह भी मोह ही है। हमने भूलसे इस 'शरीर' को अपना स्वरूप, इसके 'नाम' को अपना नाम और इस 'घर' को अपना घर मान लिया है, इसीसे इसमें मैं-मेरापन हो गया है और इसीसे 'संतानके द्वारा मेरा वंश चलता रहे', ऐसी कामना होती है। ऐसे असंख्य शरीर इससे पहले मिल चुके हैं, वहाँ उन शरीरोंमें जब थे, तब उनके लिये यही भाव था।

अब उनकी स्मृति ही नहीं है। यही हाल इस शरीरका और शरीरके सम्बन्धी घर तथा वंशका भी होगा। असलमें यह शरीर 'आप' नहीं हैं। आप तो विशुद्ध आत्मा हैं, जो अज्ञानवश जीवत्वको प्राप्त होकर विभिन्न शरीर धारण करते रहते हैं। न जानें कितने शरीरोंमें आपकी कितनी संतानें हुई हैं और उनके कितने वंश विभिन्न योनियोंमें चल रहे हैं। एक जन्मके एक शरीरका वंश न चला तो इसमें कौन-सी हानि है। अतएव आपको इस प्रकार विचार करके संतानके लिये होनेवाले संतापसे मुक्त हो जाना चाहिये। यह दुःख असलमें आपका अपना ही बुलाया हुआ है और आपके निकाल देनेसे ही निकल सकता है।

प्रथम तो प्रारब्धमें हुए बिना संतान होनी कठिन है। यदि हो और कुछ समय बाद मर जाय, तो न होनेकी अपेक्षा अधिक दुःख होता है। कितने ही प्रकारके नये-नये अभाव संतान होनेपर उत्पन्न होते और बढ़ जाते हैं। कहीं कुपात्र पुत्र निकल गया तो वह रात-दिन जलाता रहता है। इन सब बातोंपर आप विचार कीजिये।

यदि संतान बिना रहा ही न जाय तो उसके लिये कुछ उपाय कीजिये। उपाय सफल ही हो जायगा, यह तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रारब्धके प्रबल प्रतिबन्धकको रोककर नवीन प्रारब्ध बनानेवाला कर्म भी वैसा ही हो, तब कहीं फल हुआ करता है, परंतु प्रयत्न किया जा सकता है। इसके लिये किसी सदाचारी विद्वान् ब्राह्मणके द्वारा हरिवंशपुराणका पाठ आप दोनों पति-पत्नीको सुनना चाहिये और संतानगोपालमन्त्रका स्वयं जप करना चाहिये। संतानगोपालमन्त्र यह है—

देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः॥

विधि तथा श्रद्धापूर्वक जबतक संतान न हो, तबतक प्रतिदिन इसका एक सहस्र जाप करना आवश्यक है। इससे संतान न भी हुई, तो भगवान्‌का नाम तो आवेगा ही। यही एक बड़ा लाभ है। साथ ही, किसी सुयोग्य चिकित्सकसे निदान करवाकर, यदि रोग हो तो उसकी चिकित्सा भी करवानी चाहिये; क्योंकि यदि स्त्री या पुरुषके कोई ऐसा रोग होता है तो उसके कारण भी संतान नहीं होती; परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि संतानके लिये किया जानेवाला प्रयत्न वस्तुतः प्रायः दुःखका ही कारण होता है। शेष भगवत्कृपा।

——★——

श्रीराधा-कृष्ण एक ही तत्त्व हैं

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि श्रीराधा तथा श्रीकृष्ण वस्तुतः एक ही तत्त्वके दो नाम-रूप हैं। इनका नित्य अभिन्न सम्बन्ध है। अतः इनके विवाह होने, न होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। विवाह तो लौकिक जीवोंमें होता है। तथापि ब्रह्मवैवर्तपुराणमें इनके विवाहकी बात भी आती है। इनकी लीला नित्य है और नित्य ही ये अपने एक ही तत्त्वके दो स्वरूपोंमें लीला-विहार करते रहते हैं। समस्त दिव्य धामोंमें प्रमुख सच्चित्-परमानन्दमय गोलोकधाम है, वही समस्त ब्रह्माण्डका आत्मा है। उसीसे अनन्त ब्रह्माण्ड नित्य अनुप्राणित होते रहते हैं। वह नित्य सच्चिदानन्दमय परधाम सबसे विलक्षण और सर्वोपरि होनेपर भी सर्वत्र व्याप्त और सबमें स्थित है। इतनेपर भी उसकी पादविभूति—एक अंशमें ही समस्त प्राकृत लोकोंकी परिसमाप्ति हो जाती है। इनसे सर्वथा अस्पृष्ट जो त्रिपाद्विभूति है, वह अनैसर्गिक, अप्राकृत, सच्चिदानन्दमय परमधाम है। वही साकेत, वैकुण्ठ, कैलास आदि परधामोंके रूपमें भक्तोंके अनुभवमें आता है। उस परमोज्ज्वल, परम मधुर, परम कल्याणमय, परम सुन्दर, सर्वातिशायी नित्य गोलोकधाममें ही वृन्दावन, मथुरा, गोकुल, नन्दग्राम, बरसाना, गिरिराज आदि दिव्य शाश्वत प्रदेश तथा विरजा और यमुना आदि दिव्य नदियाँ हैं। हमारा यह मर्त्यधाम पार्थिव है, ठोस है; यहाँ एकमें दूसरा नहीं रह सकता। जहाँ काशी है, वहाँ प्रयाग नहीं है—दोनों पृथक्-पृथक् हैं; परंतु दिव्य सच्चित्-परमानन्दमय धाम इस प्रकारका जड तथा ठोस नहीं है। वह कैसा है, इसे वाणीसे नहीं समझा जा सकता। परंतु इतना जान लेना चाहिये कि भगवान्‌की भाँति ही वह

सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वाधार, दिव्य, प्रकाशमय, तेजोमय एवं नित्य सत्य भावमय है। उसीमें समस्त दिव्य लोकोंका सत्य स्फुरण है। वे साकेत, वैकुण्ठ, कैलास आदि भेदोंसे सत्य-सत्य ही अनेक होते हुए भी सत्य-सत्य एक ही हैं। उसी परतम गोलोकधामकी अधीश्वरी श्रीराधारानी हैं, जो श्रीकृष्णसे नित्य अभिन्न होनेपर भी श्रीकृष्णको नित्य परमानन्द प्रदान करनेवाली उनकी ह्लादिनी शक्ति हैं। श्रीकृष्णके स्वरूपका आधार वे हैं और श्रीकृष्ण उनके स्वरूपके आधार हैं। वे नित्य प्रिया-प्रियतम हैं। कभी एक क्षणके लिये भी उनका वियोग नहीं होता। पर यह प्रिया-प्रियतमभाव कैसा है, इसे समझनेके लिये कोई भी लौकिक दृष्टान्त समीचीन और उपयुक्त नहीं है। जैसे भगवान् सर्वविलक्षण, निरुपाधि और अतुलनीय तथा अचिन्त्य हैं, वैसे ही यह प्रिया-प्रियतमभाव भी अतुलनीय और अचिन्त्य है।

इस प्राकृत जगत्‌में जो इन सबका अवतरण हुआ था, कहा गया है कि वह इनके दिव्य राज्यमें इनकी एक स्वप्नलीला थी। विचित्र-लीला-सम्पादिनी भगवान्‌की योगमाया सदा लीला-वैचित्र्यके आयोजनमें ही लगी रहती हैं। प्रिया-प्रियतम निकुञ्जमें शयन कर रहे हैं। इसी समय प्रिया श्रीराधारानीके सामने योगमाया एक दृश्य उपस्थित करती हैं। श्रीजीको स्वप्न होता है—'मैं भारतके अन्तर्गत श्रीवृषभानुपुरीमें कीर्तिदा माताके अङ्कमें बालिकारूपसे प्रकट हुई हूँ, इत्यादि।' स्वप्न मनका संकल्प है। श्रीजी सदा सत्य-संकल्प हैं, अतः उनके उस संकल्पके अनुसार भारतवर्षके व्रजमण्डलान्तर्गत वृषभानुपुरीमें उनके प्रादुर्भावकी लीला सम्पन्न हुई। इसी प्रकार योगमायाके संकेतसे श्रीकृष्णने भी संकल्पसे ही अवतरण किया। यहाँकी इस लीलामें श्रीकृष्ण ग्यारह वर्षकी आयुतक ही व्रजमें विराजे। श्रीजीकी आयु भी लगभग इतनी-सी ही थी। कहते हैं कि वे श्रीकृष्णसे

पंद्रह दिन छोटी थीं। इसी बाल्यकालमें व्रजमें इन दोनोंके बीच प्रथम दर्शन, पूर्वराग, संयोग आदिकी समस्त रसलीलाएँ सम्पन्न हुईं। लोकदृष्टिमें इनकी सगाईकी चर्चा चल रही थी। किसी-किसी भक्तने इनके विवाहका भी वर्णन किया है। हमारे पास एक पुरानी हस्तलिखित पुस्तक है, जिसमें बड़ी सुन्दर विवाह-लीलाका सचित्र वर्णन है। ब्रह्मवैवर्तपुराणके अनुसार भी लोगोंकी दृष्टि बचाकर साक्षात् श्रीब्रह्माजीने वृन्दावनमें सखियोंके सामने इन शाश्वत प्रिया-प्रियतमका विवाह भी करवा दिया था। फिर श्रीकृष्ण मथुरा पधारे और तदनन्तर द्वारका गये। तत्त्वतः श्रीकृष्णस्वरूपिणी, नित्य कृष्णसङ्गिनी, श्रीकृष्णप्रिया श्रीराधारानी प्रेमयोगिनी विरहिणीका प्रेमानुरागमय जीवन बिताने लगीं। अवतार-लीला सम्पन्न होनेमें यहाँके परिमाणके अनुसार लगभग सवा सौ वर्ष लग गये। तत्पश्चात् परमधाम-गमनसे पूर्व ही भगवान् श्रीकृष्णने व्रजमें पधारकर समस्त गोप-गोपियोंको तथा व्रजमण्डलको गोलोकधाममें भेज दिया। इतना सब देख चुकनेपर श्रीराधाजीका स्वप्न भङ्ग हुआ। उन्होंने देखा—'मेरी आँख लग गयी, इतनेमें ही क्षणभरमें मैंने यह स्वप्न देख लिया। वस्तुतः तो मैं प्रियतम श्रीकृष्णके पास ही हूँ। न कहीं गयी न आयी। श्रीकृष्ण तथा अन्य सबने भी लीलानुरोधसे यही अनुभव किया। यह एक प्रसङ्गकी कथा है। कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि श्रीराधाकृष्ण नित्य, सनातन परस्पर अभिन्न प्रिया-प्रियतम हैं। इनका स्वरूप अनिर्वचनीय है—अचिन्त्य है। इनकी परम कृपासे ही उसका किसी-किसीको कहीं कुछ आभास मिलता है। उनके आदर्श प्रेम और महत्त्वको ऐसे ही कतिपय भाग्यवान् जन जानते हैं। आपकी कृपासे पत्रका उत्तर लिखनेके बहाने प्रिया-प्रियतमकी पवित्र स्मृति हुई, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। शेष भगवत्कृपा।

★

परमार्थके लिये धर्मपर चलना उत्तम है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके प्रश्नोंका उत्तर नीचे लिखा जा रहा है—

(१) सच्चा संन्यासी ऐश्वर्य, सुख-भोग और कीर्तिकी कामना नहीं कर सकता। संन्यासीका अर्थ ही है—सब कुछका सब प्रकारसे त्याग करनेवाला। जिसके मनमें सुख-भोग और कीर्तिकी कामना है, वह सर्वत्यागी यानी संन्यासी ही नहीं है। संन्यासी साधक यदि ऐसी कामना करता है तो उसका पतन होता है। योगी सिद्धियोंके द्वारा सुख-भोग प्राप्त कर सकता है, परंतु वह परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें विघ्न ही है। परमात्माको प्राप्त योगीमें सुखभोगकी इच्छा नहीं होती। भगवत्प्राप्त भक्त या योगी भगवान्‌के इच्छानुसार तो सब कुछ कर सकते हैं। पर उनका कुछ भी करना न करना ही है।

(२) परमार्थके लिये धर्मपथपर चलना और परमार्थके लिये ही योगसाधन करना सर्वोत्तम है।

(३) एक ही व्यक्ति समस्त जगत्‌का सुधार कर सकता है यदि भगवान् उसे तदनुकूल शक्ति और मति दे दें।

(४) भगवान् रामकी भाँति पापियोंको मारनेका अधिकार भगवान् रामको ही है। वे साक्षात् परमात्मा हैं। उनकी देखा-देखी किसीको मारनेकी बात सोचना भी पाप ही है। हमें तो यही भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये और यही भावना करनी चाहिये कि भगवान् सबको सद्‌बुद्धि दें, सभी धर्मके पवित्र मार्गपर चलें, सभी सबका हित करें, सभी सुखी हों, सभी कल्याणको प्राप्त हों और सभी भगवान्‌की कृपा प्राप्त करें। इसीमें अपना तथा सबका कल्याण है। शेष भगवत्कृपा।

———★———

पतिके सामने पत्नीकी मृत्यु अच्छी क्यों ?

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला, धन्यवाद। उत्तरमें निवेदन है कि पतिके सामने पत्नीकी मृत्युको अच्छा माना गया है; क्योंकि पतिके सामने प्राण त्यागनेवाली अन्तकालतक सौभाग्यवती रहती है। इसके विपरीत पत्नीके रहते पतिकी मृत्यु इसलिये बुरी मानी गयी है कि पतिकी मृत्युके बाद भी जीवित रहनेवाली स्त्रीको दुःखदैन्यपूर्ण वैधव्य जीवन बिताना पड़ता है। पुरुषके सामने मरनेवाली पत्नी अपने शुभाशुभ कर्मानुसार अच्छी-बुरी गतिको प्राप्त होती है। इसी प्रकार पुरुष भी कर्मानुसार शुभाशुभ गतिका अधिकारी होता है।

पति-पत्नीमेंसे एकके शुभाशुभ कर्मका परिणाम भी दोनोंपर होता है। पतिव्रता पत्नी अपने सत्कर्मसे पतिको तार देती है और कुलटा उसे नरकमें ढकेलनेमें सहायक बनती है। भगवान्‌का भक्त अपने माता, पिता और पत्नी—तीनों कुलोंकी अनेकों पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है। शास्त्रदृष्टिसे पति-पत्नी एक प्राण, दो देह माने गये हैं। दोनों एक-दूसरेसे जुड़े हुए हैं। इसलिये उनका उत्तरदायित्व भी मिला हुआ-सा होता है। हाँ, जो पुरुष या स्त्री भक्ति-ज्ञानके प्रभावसे मुक्त हो गये हों, उनपर कोई दायित्व नहीं रहता। अथवा पति सदाचारी हो और पत्नीमें पापकी वृत्ति हो तथा पतिके समझाने-बुझाने एवं रोकनेपर भी वह पापपथसे न हटती हो, तब उसके पापका फल उस अकेलीको ही भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार पत्नीके समझाने-रोकनेपर भी पति यदि उसकी राय न मानकर पापाचरणमें प्रवृत्त रहता है तो उसके फलका जिम्मेवार भी वह अकेला ही होता है। जहाँ पति-पत्नीमें एकमत हो, वहीं उनके कर्मोंका संयुक्त उत्तरदायित्व भी है। शेष भगवत्कृपा।

———★———

एक ही परमेश्वरके अनेक स्वरूप हैं

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, धन्यवाद आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) महादेवजी, पार्वतीजी अथवा गणेशजी अनादिसिद्ध देव हैं। एक ही परमेश्वर सृष्टि, पालन और संहारके लिये विभिन्न गुणोंको आश्रय देकर विभिन्न नाम तथा रूपोंसे प्रसिद्ध हो रहे हैं। सृष्टिके रचयिताको ब्रह्माजी, पालकको भगवान् विष्णु तथा संहारकर्ताको रुद्र या महादेव कहते हैं। जैसे परमेश्वर अनादि, अनन्त एवं सनातन हैं, वैसे ही ये महादेवजी आदि भी उनके शाश्वतरूप हैं। इनका न कभी जन्म होता है, न मृत्यु—ये सदा रहते हैं। उदाहरणके लिये अग्निके परमाणु सर्वत्र व्याप्त हैं, इस रूपमें अग्नि सदा मौजूद है, यह उसका अव्यक्त स्वरूप है। वही अग्नितत्त्व सूर्यके रूपमें हमें प्रत्यक्ष दीख पड़ता है तथा वही आगके रूपमें, दीपकके रूपमें घर-घरमें प्रज्वलित हो प्रकट दिखायी देता है। ग्रह, नक्षत्र, तारे आदि सभी वस्तुतः एक ही ज्योतिर्मय महातत्त्वके विभिन्न स्वरूप हैं। इसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य, काली, गणेश आदि एक ही परमात्माके तेजोमय स्वरूप हैं। जैसे आग बुझती है और जलती है, परंतु उसका अभाव नहीं होता, उसी प्रकार उक्त सभी स्वरूपोंका जगत्में आविर्भाव और तिरोभाव (प्रकट होने और छिपनेका भाव) होता है, परंतु उनका अभाव कभी नहीं होता।

इसलिये उनके जन्म आदिकी कथा एक आरोप या लीलामात्र है। आविर्भाव और तिरोभाव कभी गिने नहीं जा सकते। महासागरमें

अबतक कितनी लहरें उठीं और विलीन हुईं, इसे कौन बता सकता है ? परमात्माके ये सब स्वरूप भी सनातन होते हुए भी लीलाके लिये प्रादुर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं। इनके जन्म-मरण नहीं होते। ये सदा सत्य हैं और भक्तजनोंको इनके दर्शन सदा ही हो सकते हैं।

श्रीमहादेवजी तो अजन्मा हैं ही। इनकी आह्लादिनी शक्ति महादेवी भी उनसे अलग नहीं होतीं। वे लीलाके लिये कभी दक्षकन्या सती होकर अपने प्रभुकी सेवामें रहती हैं और कभी गिरिराज-नन्दिनी पार्वती होकर अपने प्रियतमकी आराधना करती हैं। प्रत्येक कल्पमें ऐसा होता है, इसलिये ये सती और पार्वती भी अनादि हैं। न जाने कबसे इनका प्रादुर्भाव और तिरोभावका क्रम चल रहा है—कौन कह सकता है। गणेशजी भी परमात्माके एक स्वरूप हैं। विघ्नहरण, मङ्गलकरण इनका मुख्य कार्य है। किसी समय पार्वतीजी जब इनका स्मरण करती हैं, तब ये अव्यक्तसे व्यक्त हो जाते हैं, उनके पुत्ररूपमें साकार होकर लीलाएँ करने लगते हैं। इनके प्रादुर्भावका क्रम भी अनादि है। शिव-पार्वतीके विवाहकालमें उन्हीं अनादिसिद्ध विघ्नहरण, मङ्गलकरण गणेशतत्त्वका पूजन होता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी लोगोंकी शङ्काका निवारण करते हुए कहा है—

मुनि अनुसासन गनपतिहि पूजेउ संभु भवानि।
कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जियँ जानि॥

(२) एक समय शुम्भ-निशुम्भके अत्याचारसे पीड़ित देवतालोग भगवती विष्णुमायाकी स्तुति करने लगे। स्तुतिके अन्तमें भगवान्‌की योगमायास्वरूपा पार्वतीजी उनके सामने प्रकट हुईं। उन्होंने अपने-आप ही उनसे प्रश्न किया—'**भवद्भिः स्तूयतेऽत्र का।**'आपलोग यहाँ किसकी स्तुति करते हैं ? पार्वतीजीके शरीरसे एक तेजोमयी देवीने

तत्काल प्रकट होकर उत्तर दिया—'ये लोग मेरी ही स्तुति करते हैं।' वह देवी शरीर-कोशसे प्रकट हुई थी, इसीलिये 'कौशिकी' कहलायी। उसीको 'अष्टभुजा सरस्वती' भी कहते हैं। कौशिकीके निकल जानेके बाद पार्वतीका रंग काला पड़ गया और वे हिमाचलपर 'काली' के नामसे प्रकट हुईं। यह कथा मार्कण्डेयपुराणमें है। इस प्रकार यद्यपि पार्वतीजी ही काली, कालिका, गौरी, सरस्वती हैं, काली और गौरी दोनों उन्हींके नाम हैं, तथापि जो महाकाली महादेवजीके वक्षपर पैर रखे हुए दिखायी देती हैं, वे दूसरी ही हैं। तत्त्वतः या स्वरूपतः सब एक हैं, तथापि लीलाके लिये कुछ भेद स्वीकार किया जाता है। कहते हैं—एक समय किसी असुरका संहार करके महादेवी दुर्गा बड़े क्रोधमें भर गयीं। उस समय उनके क्रोधको शान्त करनेमें कोई समर्थ न हो सका। ऐसा जान पड़ता था कि वे समस्त जगत्का संहार कर डालेंगी। वे उस समय विकराल महाकालीके रूपमें उपस्थित थीं। किसी भी देवताको उनके सामने जानेका साहस नहीं होता था। तब महादेवजीने एक युक्ति सोची। वे उनके सामने मुर्देकी तरह लेट गये। महाकालीजी क्रोधमें बढ़ी आ रही थीं। अपने पतिकी छातीपर ज्यों ही उन्होंने पैर रखा कि महाकालीजीका ध्यान भङ्ग हुआ। वे क्रोधका आवेश कम करके नीचे देखने लगीं। देखा तो शंकरजी नीचे दबे हैं। यह देख उनके मनमें संकोचका उदय हुआ, वे लज्जासे जीभ निकालकर पीछे हट गयीं। उसी स्वरूपकी झाँकी देखनेमें आती है। मुण्डमाला असुरोंके मुण्डोंसे बनी है। उसमें कितने मुण्ड हैं, इसकी गिनती नहीं।

(३) महादेवजीके गलेमें जो मुण्डमाला है, उसकी भी कहीं गणना नहीं दी गयी है। शेष भगवत्कृपा।

═══★═══

ईमानदारीका आदर्श

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपने जो कुछ लिखा है, आजके आदर्शच्युत भारतवासीका ठीक यही चित्र है। हमारे उच्च भाव, हमारी सचाई और ईमानदारीका आदर्श, हमारी महान् त्यागकी भावना, भूतमात्रको अपना स्वरूप या भगवान् समझनेका सिद्धान्त केवल हमारे अध्यात्मग्रन्थोंमें रह गया है, हमारे जीवनमें वह ढूँढ़े भी नहीं मिलता। यह अत्यन्त ही परितापका विषय है। सचाई और ईमानदारीकी दृष्टिसे जगत्में आज सबसे बढ़कर आदर्श व्यवहार है अंग्रेजजातिका। सन् १९५० के आसपास लंदनसे एक समाचार आया था, जिसका सारांश इस प्रकार है—'एक ब्रिटिश फर्मने हालमें ही अपने ग्राहकोंको चार लाख पौंड (एक पौंडके दाम आज १३.५० हैं, इस हिसाबसे ५४ लाख रुपये) की बड़ी रकम वापस दी है। उस फर्ममें गत्तेके डिब्बे बनते हैं। उसका अनुमान था कि गत्ते महँगे मिलेंगे, इससे उसने डिब्बोंके दाम अधिक रख दिये थे। ग्राहकोंने उसी दाममें डिब्बे स्वेच्छापूर्वक खरीदे थे; परंतु पीछे फर्मको यह पता लगा कि गत्ते सस्ते मिले हैं, उनके दाम उसको अधिक लगाने नहीं चाहिये थे, इसलिये उसने अपने मुख्य ग्राहकोंको एक पौंडके पीछे दो शिलिंग अर्थात् पूरी रकमका दसवाँ हिस्सा लौटा दिया।'

कितना आदर्श व्यवहार है ! आजके भारतीय व्यापारियोंमें तो शायद ही कोई ऐसा हो, जिसके मनमें इस प्रकारका अधिक मुनाफा लौटानेकी कल्पना भी हो। हमें अंग्रेजोंसे इस विषयमें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और इतना नहीं तो कम-से-कम व्यापारमें—कम

तौलना, अधिक लेना, मिलावट करना, बढ़ियाके बदले घटिया माल देना, घाटा होनेपर स्वीकृत सौदेको अस्वीकार कर देना और छिपाव या चोरीसे ज्यादा रुपये ले लेना—आदि दोषोंका परित्याग तो करना ही चाहिये। उचित तो यह है कि जिसके साथ अपना व्यापार हो, उसे भगवान् मानें और उसकी सेवा, उसके हितकी दृष्टिसे और उसे सुख पहुँचानेके लिये ही उसके साथ व्यापार करें। याद रखना चाहिये—यों भगवत्पूजाके भावसे व्यापार करनेवाला व्यक्ति या फर्म परिणाममें घाटेमें तो रहेगा ही नहीं, यहाँ भी उसे आशातीत लाभ होगा और भगवत्पूजाके भावसे किया हुआ व्यापार परम साधन बनकर उसे भगवान्की प्राप्ति करा देगा। भगवान्ने स्वयं कहा है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(गीता १८।४६)

'अपने स्वाभाविक कर्मके द्वारा भगवान्की पूजा करके मनुष्य सिद्धिको—भगवान्को प्राप्त हो जाता है।' अतः इस प्रकारकी चेष्टा करनी चाहिये। समाज न करे तो न सही, जिसकी समझमें यह तत्त्व आ जाय, उसे तो अपने इहलोक-परलोकके हित और मानव-जन्मकी सफलताके लिये ऐसा करना ही चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

———★———

संन्यासी और स्त्री

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र पढ़कर आश्चर्य हुआ, साथ ही खेद भी। दूसरोंको धर्मका उपदेश देनेवाले लोग भी यदि स्वयं ही स्वधर्मका पालन न करें तो वे अपना और दूसरेका क्या उद्धार कर सकते हैं? यदि कोई मनुष्य वीतराग संन्यासीका बाना धारण करके भी स्त्रियोंसे शरीरका स्पर्श कराता है, तो वह न केवल स्वधर्मसे भ्रष्ट होता है, अपने संसर्गमें आनेवाले अन्य स्त्री-पुरुषोंको भी पापका भागी बनाता है। वे स्त्रियाँ भी अपनेको नरकमें ले जा रही हैं, जो संन्यासीके अङ्गका स्पर्श करके उसे तो धर्मभ्रष्ट करती ही हैं, स्वयं ही परम पवित्र सतीधर्मसे गिरकर दूसरोंके लिये बुरा आदर्श उपस्थित करती हैं। शास्त्रोंने संन्यासीको सदा अकेले रहनेकी सलाह दी है—**'एकश्चरेन्महीमेतां निस्सङ्गः संयतेन्द्रियः।'** (श्रीमद्भागवत ११।१८।२०) अर्थात् 'संन्यासी अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर, सङ्गरहित हो अकेला ही इस पृथ्वीपर विचरे।' **'एकारामः'** (याज्ञ० स्मृति ३।५८) 'अकेलेमें ही सुखका अनुभव करनेवाला हो।' दक्षस्मृतिमें लिखा है—

एको भिक्षुर्यथोक्तश्च द्वावेव मिथुनं स्मृतम्।
त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते॥

'संन्यासी यदि अकेला रहे तो वास्तवमें संन्यासी है, दो होनेपर वह मिथुनयुक्त समझा जाता है, तीन संन्यासी एकत्र हो जायँ तब तो पूरा गाँव ही बस गया और इससे अधिक इकट्ठे हों तो वह उनके लिये एक बड़ा-सा नगर समझना चाहिये।'

संन्यासीके लिये यह स्पष्ट आदेश है कि वह स्त्रीसे दूर रहे।

जीती-जागती स्त्रीकी तो बात ही क्या है, काठकी बनी हुई युवती स्त्रीकी प्रतिमाका भी पैरसे भी स्पर्श न करे। जैसे हाथी काठकी हथिनीके अङ्गका स्पर्श करके बँध जाता है, वैसे ही वह संन्यासी भी बन्धनमें पड़ सकता है—

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।
स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः॥

(श्रीमद्भा० ११।८।१३)

नारदपारिव्राजकोपनिषद्में संन्यास-धर्मकी बड़े विस्तारसे व्याख्या की गयी है। उसमें लिखा है—

माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति।
तस्माद् दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत्॥
सम्भाषणं सह स्त्रीभिरालापं प्रेक्षणं तथा।
नृत्यं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत्॥

(६।३१।३२)

'मनुष्य मदिराको तो पीनेपर मतवाला होता ही है, तरुणी स्त्रीको देखकर ही उन्मत्त हो उठता है। इसलिये दर्शनमात्रसे विषका-सा प्रभाव डालनेवाली नारीको संन्यासी दूरसे ही त्याग दे। स्त्रियोंके साथ एकान्तमें बातचीत करना, उनके साथ दूसरोंके सामने भी बात करना, उनकी ओर देखना, नाचना, गाना, हास-परिहास करना तथा परायी निन्दा करना—संन्यासी इन सबका त्याग कर दे।'

नारदजीने यहाँतक कहा है—

न संभाषेत् स्त्रियं काञ्चित् पूर्वदृष्टां च न स्मरेत्।
कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि॥

एतच्चतुष्टयं मोहात् स्त्रीणामाचरतो यतेः ।
चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात् प्रणश्यति ॥

(४ । ३-४)

'संन्यासी किसी स्त्रीसे बातचीत न करे। पहलेकी देखी हुई किसी स्त्रीका स्मरणतक न करे। स्त्रियोंकी चर्चासे भी दूर रहे तथा स्त्रियोंका चित्र भी न देखे। सम्भाषण, स्मरण, चर्चा तथा चित्र-दर्शन—स्त्री-सम्बन्धी इन चार बातोंका जो मोहवश आचरण करता है, उस संन्यासीके चित्तमें अवश्य विकार उत्पन्न होता है और उस विकारसे वह धर्मभ्रष्ट होनेके कारण नष्ट हो जाता है।'

इसी प्रकार स्त्रीकी शारीरिक और मानसिक स्थितिपर विचार करते हुए धर्मशास्त्रोंने उसे सदा अपने गुरुजनोंके अधीन रहनेकी सलाह दी है, वह कभी स्वतन्त्रतापूर्वक कोई काम न करे—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता ।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहेष्वपि ॥

(मनु० ५ । १४७)

स्त्री बचपनमें पिताके, युवावस्थामें पतिके और वृद्धावस्थामें यदि पति न रहे तो पुत्रोंके अधीन रहे; स्वतन्त्र न रहे—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥

(मनु० ५ । १४८)

पति ही उसे इहलोक और परलोकमें सुख देनेवाला है—

सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ।

(मनु० ५ । १५३)

स्त्रीको अपने पतिकी देवबुद्धिसे सेवा करनी चाहिये।

उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः ॥

(मनु० ५।१५४)

स्त्रियोंके लिये पतिसे अलग स्वतन्त्ररूपसे कोई यज्ञ, व्रत और उपवास करनेकी विधि नहीं है; वह पतिकी जो सेवा करती है, उसीसे स्वर्गलोकमें सम्मानित होती है—

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥

(मनु० ५।१५५)

पति ही स्त्रियोंका गुरु है, इस विषयमें शास्त्रोंमें बहुत-से प्रमाण मिलते हैं; वे सभी यथार्थ एवं मान्य हैं। प्रातःस्मरणीया भगवती सीताजीने भी पतिको गुरु कहा है—**'यो मे भर्ता स मे गुरुः ।' 'विदितं तु ममाप्येतद् यथा नार्याः पतिर्गुरुः ।'** पतिकुलमें रहना ही स्त्रियोंके लिये गुरुकुलमें वास है—**'पतिसेवा गुरौ वासः ।'** मनुजीने तो यहाँतक कह दिया है कि पति, पिता, भाई अथवा पुत्रसे पृथक् अकेली विचरनेवाली स्त्री दोनों कुलोंको कलङ्कित कर देती है—**'गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ।'**

आजकल स्त्रियोंको आत्मकल्याण करनेके नामपर उनके धर्मसे गिराकर भ्रष्ट किया जाता है। शास्त्र कहता है—स्त्रियाँ तो तन-मन-वचनसे पतिकी सेवा करनेसे ही उनकी हितकारिणी होकर पतिके समान शुभ लोकोंको अनायास ही प्राप्त कर लेती हैं, जो पुरुषोंको अत्यन्त परिश्रमसे मिलते हैं। इसीलिये मैंने तीसरी बार यह कहा था कि 'स्त्रियाँ साधु हैं।'

योषिच्छुश्रूषणाद् भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा।
तद्धिता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः ॥

नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा।
तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्यिति योषितः॥

(विष्णुपुराण ६।२।२८-२९)

कहीं भी शास्त्रमें ऐसा विधान नहीं है कि स्त्री पातिव्रत्य धर्म छोड़कर किसी संन्यासीकी चरणसेवा करके आत्मज्ञानका उपदेश ले।

तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥

——पार्वतीजीके इस कथनका यह अर्थ नहीं कि पतिकी आज्ञाकी अवहेलना करके स्वयं बनाये हुए किसी दम्भी गुरुकी आज्ञासे नारी स्वधर्म छोड़ दे और संन्यासीके साथ विचरती रहे। उपर्युक्त चौपाईमें सतीशिरोमणि सतीके अविचल पति-प्रेमका उदाहरण है। नारदने यही तो कहा था कि 'भगवान् महेश्वरको पतिरूपमें पानेके लिये पार्वती तपस्या करे।' इससे 'पति' की उच्चता और दुर्लभता सिद्ध होती है। जैसे कोई भक्त कहे कि हम भगवान्‌के कहनेसे भी उनकी भक्ति नहीं छोड़ेंगे तो इस कथनसे उसकी अतिशय भक्ति ही सूचित होती है, न कि भगवत्-द्रोह। इसी प्रकार सतीने कहा——मैं महेश्वरके कहनेसे भी उनके प्रति प्रेम तथा उनकी प्राप्तिके लिये साधन नहीं छोड़ूँगी। सप्तर्षिगण भी तो माता पार्वतीके गुरु बनकर ही आये थे और उनके महेश्वरमें जो प्रेम था, उसे छोड़नेका सदुपदेश दे रहे थे; परंतु पार्वतीने उनको दूरसे ही नमस्कार किया, पतिप्रेमके विरुद्ध कोई उपदेश ग्रहण नहीं किया।'**बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥**' का अडिग निश्चय सुनकर वे महर्षिगण चुप हो गये। उन्होंने फिर सतीको उपदेश देनेका साहस नहीं किया; वे उलटे उस पतिव्रताकी स्तुति करके चले गये। भगवद्भक्तिमें स्त्री-पुरुष सभीका अधिकार है, पर उसमें पतिसेवा छोड़नी नहीं पड़ती; पतिमें ही भगवद्भाव करके सेवा की जाती है।

शास्त्रोंमें गुरुकी बड़ी महिमा है। पुरुषको ही गुरुकी शरण लेकर उनसे आत्मज्ञानका उपदेश लेना चाहिये। पत्नीको पतिसेवासे ही सब कुछ मिल जाता है। पतिव्रता शाण्डिलीने सूर्यदेवको स्तम्भित कर दिया था। अनावृष्टिके समय पतिव्रता अनसूयाने अपने सतीत्वसे जल प्रकट करके प्रजाकी रक्षा की थी। ब्रह्मा, विष्णु, शिव—तीनों उसके पुत्र बन गये थे। पतिव्रता सावित्रीने पतिको मृत्युके मुखसे बचा लिया था। पातिव्रत्यकी शक्तिके सामने सारी शक्तियाँ नतमस्तक होती हैं।

किसको उपदेश न देना और किसको देना चाहिये, इस विषयमें जो कुछ उन सज्जनने लिखा है तथा जो वचन उद्धृत किये गये हैं, उनसे यह नहीं सिद्ध होता कि स्त्रीको भी इस प्रकार उपदेश लेनेका अधिकार है; क्योंकि '**नास्तिकाय कृतघ्नाय दुर्वृत्ताय दुरात्मने**' इत्यादि वचनोंमें जितने विशेषण आये हैं, सब पुरुषके हैं। उनमें स्त्रीलिङ्गका प्रयोग नहीं है, अतः वे वचन पुरुषोंपर ही लागू होते हैं।

वे लिखते हैं—'**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव**' इत्यादिके साथ तैत्तिरीयोपनिषद्में '**पतिदेवो भव**' का उपदेश नहीं है। इसलिये उनकी रायमें 'पतिभक्ति' का उपदेश शास्त्रीय नहीं है; 'स्त्रीके लिये गुरुभक्तिका उपदेश शास्त्रीय है।' बलिहारी है इस सूझकी !

उस उपनिषद्में स्पष्ट लिखा है—'**वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिन-मनुशास्ति**—' अर्थात् 'वेदोंको पढ़ाकर अन्तमें आचार्य अपने शिष्यको उपदेश देते हैं।' शास्त्रोंका यह स्पष्ट मत है कि वेद पढ़नेकी आज्ञा पुरुषोंको ही है। अतः उपनिषद्का वह आदेश ब्रह्मचारी बालकोंके लिये है, बालिकाओंके लिये नहीं। अतः '**पतिदेवो भव**' उपदेश उक्त प्रसङ्गमें क्यों होता ? '**आचार्यदेवो भव**' उपदेश यदि

स्त्रीके लिये होता तो **'आचार्यदेवा भव'** लिखा जाता; **'आचार्यदेवो भव'** यह पुँल्लिङ्ग प्रयोग नहीं होता।

जहाँ स्त्री-धर्मका वर्णन है, वहाँ स्पष्ट लिखा है कि स्त्री अपने पतिकी देवताकी भाँति पूजा करे।

उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः।

(मनु० ५।५४)

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—बिना ज्ञानके मोक्ष नहीं होता, यह सत्य है; परंतु पतिव्रता स्त्रीको वह ज्ञान पातिव्रत्यसे ही प्राप्त हो जाता है, इस जन्ममें नहीं तो दूसरे जन्ममें। महाभारतमें पतिव्रता और धर्मव्याध आदिके उपाख्यान प्रसिद्ध हैं। जो स्वधर्मके विपरीत स्त्रियोंसे अपनी सेवा कराते हैं, उनकी सेवासे मोक्षदायक ज्ञान प्राप्त होगा, ऐसी आशा तो किसीको नहीं रखनी चाहिये। सच्ची पतिव्रता थोड़े ही समयमें सिद्धि-लाभ करके त्रिकालज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान भी प्राप्त कर लेती है। स्वयं भगवान् उसकी पतिभक्तिसे संतुष्ट होकर उसे तत्त्वज्ञान करा देते हैं और वह मोक्ष प्राप्त कर लेती है।

अतएव मेरी समझसे आपके बतलाये हुए उक्त संन्यासी महोदय भोली-भाली स्त्रियोंको बरगलाकर उनसे अनुचित लाभ उठा रहे हैं। इसका प्रतिवाद होना चाहिये। मेरी उन देवियोंसे प्रार्थना है कि वे उनके पास जाकर अपने धर्मपथसे च्युत न हों। शेष भगवत्कृपा।

——★——

सहनशील बनिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। उत्तरमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें। आपने अपनी स्थिति लिखी और संसारको छोड़कर अपने-आपको श्रीभगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर देनेकी इच्छा प्रकट की। इसके सम्बन्धमें निवेदन है कि भगवान्‌के चरणोंमें अपने-आपको अर्पण कर देना तो बहुत ही उत्तम है। मनुष्य यदि अपनेको सचमुच भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर दे तब तो उसके लिये कुछ करना ही न रह जाय; पर भगवान्‌को आत्मसमर्पण करनेका अर्थ घर छोड़कर कहीं चले जाना नहीं है। संसारमें जो आसक्ति है, जिसके कारण प्रतिकूलका सामना करना पड़ता है—और प्रतिकूलतासे बचनेके लिये ही घर छोड़नेकी इच्छा होती है—उस आसक्तिका त्याग करना है। संसारके पदार्थोंसे आसक्ति निकल जानेपर पिताजीके द्वारा किये हुए तिरस्कारसे आपको दुःख नहीं होगा। सम्मान अच्छा लगता है, इसीलिये अपमानमें दुःख होता है। दुनियामें आपको किसी भी वस्तुसे मोह नहीं है, यह तो बहुत ही अच्छी बात है; पर जब मोह नहीं है, तब घरमें सब सौतेला-सा नजर क्यों आता है ? या तो सब वस्तुओंसे वैराग्य होना चाहिये था या सभी पदार्थोंमें सदा-सर्वदा भगवान्‌को देखकर प्रेम और आनन्द होना चाहिये था। चित्तमें जो ऊबनेकी भावना आती है, वह मोहका ही एक परिणाममात्र है। जो कुछ भी हो, मेरी सम्मतिमें आप घरका परित्याग मत कीजियेगा। छोटी लड़की और उसकी माताकी देख-रेखकी जिम्मेवारी आपके ऊपर है, उसे शान्ति तथा धीरजके साथ पूरी करते रहिये। श्रीभगवान्‌के नामका

जप तथा विश्वासपूर्वक श्रीभगवान्‌से प्रार्थना कीजिये। प्रार्थनासे आपको बल मिलेगा तथा भगवान्‌की कृपासे आपके मार्गकी अड़चनें दूर होंगी।

दूसरी माताका आपके प्रति प्रेम कम है, यह स्वाभाविक ही है। इससे बुरा न मानकर अपनी सेवा तथा सद्व्यवहारसे उनका हृदय बदलनेकी चेष्टा करनी चाहिये। आप निरन्तर सद्भावनापूर्वक उनके साथ नम्र एवं सम्मानपूर्ण व्यवहार करेंगे और कुछ सहनशील बन जायँगे तो सम्भव है, आज जो उनकी प्रतिकूलता है बहुत अंशोंमें दूर हो जाय। शेष भगवत्कृपा।

—★—

मन, बुद्धि आदिके स्वरूप

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद ! आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) अन्तःकरणमें जो मनन या संकल्प-विकल्प करनेकी वृत्ति है, उसीका नाम मन है। मन संशयात्मक होता है; उस संशय या संकल्प-विकल्पपर विचार करके किसी निश्चयपर पहुँचानेवाली जो वृत्ति है, उसे बुद्धि कहते हैं। बुद्धि विचारपूर्वक निर्णय देती है। आत्मा इन दोनों वृत्तियोंका साक्षी अथवा द्रष्टा है। वह मन और बुद्धि दोनोंके कार्योंको तटस्थ रहकर देखता है। उसीके सहज प्रकाशसे मन, बुद्धि अपने कार्यमें समर्थ होते हैं। आत्मा मनका भी मन और बुद्धिकी भी बुद्धि है। यदि मन और बुद्धिको आत्माका आश्रय न प्राप्त हो तो वे सत्ताशून्यकी भाँति हो जाते हैं, फिर वे कुछ नहीं कर सकते। यही इन तीनोंका अन्तर है।

(२) मन जिस कार्यके लिये आज्ञा देता है, उसमें उसका कुछ राग या द्वेष अवश्य रहता है। वह प्रायः ऐसी प्रेरणाएँ देता है, जिनसे उसकी इच्छा पूर्ण हो। विषयसेवन या भोगसंग्रहकी प्रेरणा मनके द्वारा ही प्राप्त होती है। वह रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—भोगोंके प्रति आसक्त होता है; अतः उनकी ओर वह हमें आकृष्ट करना चाहता है। जीवको वह अपने पीछे चलाना चाहता है। किसी शत्रुसे बदला लेनेकी भावना भी मनमें होती है, अतः वैसे कार्य भी उसीकी प्रेरणासे होते हैं। उसमें द्वेष छिपा रहता है। राग और द्वेष ही क्रमशः काम और क्रोधके रूपमें परिणत होते हैं। इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये ही तीनों राग-द्वेष या काम-क्रोधके निवासस्थान हैं, अतः इनका प्रत्येक कार्य राग या द्वेषसे प्रेरित होता है। आत्मा

इन सबसे ऊपर है, वह जबतक मन आदिके मोहजालमें फँसकर अपने स्वरूपको भूला हुआ है, तभीतक मनके इशारेपर चलता है। 'मैं इन सबका स्वामी, शासक और इनसे सर्वथा विलक्षण हूँ। मैं सर्वत्र व्यापक एवं नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप हूँ।'—यह ज्ञान होते ही वह इन मन आदिका शासक हो जाता है; फिर तो ये ही आत्माके अनुशासनमें चलते हैं। विशुद्ध आत्मासे प्रेरित होकर जो कार्य होगा, उसमें राग-द्वेषकी गन्ध भी नहीं होगी। सबके प्रति मैत्री, दया, परोपकार, सेवा, भगवद्भजन, सत्सङ्ग तथा सत्कर्म आदिके भाव मनमें तभी जगते हैं, जब विशुद्ध आत्माकी प्रेरणा होती है। मन, इन्द्रिय आदि जब आत्माके अधीन होते हैं, तब इनके द्वारा कोई अशुभ कर्म नहीं होता। थोड़ेमें इतना ही समझ लें कि सद्धर्म एवं सद्भावपूर्ण कार्योंके लिये प्रेरणा आत्मासे मिलती है और राग-द्वेषपूर्ण कार्योंकी प्रेरणा मनकी ओरसे प्राप्त होती है।

जो कर्म राग-द्वेष-रहित और वशमें किये हुए मन-इन्द्रियोंसे होते हैं, उनसे प्रसाद—चित्तकी निर्मलता-प्रसन्नता या भगवान्‌की कृपा प्राप्त होती है और उससे समस्त दुःखोंका नाश हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

(गीता २। ६४-६५)

(३) विशुद्ध आत्माका नाम ही परमात्मा है; दोनोंमें कोई भेद नहीं है। इस आत्मा या परमात्माका कभी पतन नहीं होता। जैसे घटाकाश या महाकाशमें कोई अन्तर नहीं, वैसे ही शरीरान्तर्यामी आत्मा और परमात्मामें भी कोई अन्तर नहीं। मन, प्राण और सूक्ष्म इन्द्रियोंका समुदाय 'सूक्ष्मशरीर' कहलाता है। यह स्थूलशरीरके भीतर रहता है।

इसीकी प्रेरणाके अनुसार स्थूलशरीरद्वारा क्रियाएँ होती हैं। इस सूक्ष्मशरीरके साथ तादात्म्य हुए आत्माको 'जीव' कहते हैं। इसी सूक्ष्मशरीरमें राग-द्वेषमूलक प्रवृत्ति होती है; अतः उसीका पतन होता है। वही नरकमें और वही स्वर्गमें भी जाता है। उसीका जन्म और उसीकी मृत्यु होती है। इस प्रकार आत्मा जबतक इस सूक्ष्मशरीरको अपना स्वरूप मानता है, तभीतक उसके सुख-दुःखसे वह सुखी-दुःखी होता है और विविध योनियोंमें भटकता रहता है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३। २१)

'प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक समस्त पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।' उस सूक्ष्मशरीरके ही पतनका आरोप लोग अज्ञानवश आत्मापर करते हैं। क्या घड़ेमें रखी हुई कीचड़का लेप आकाशमें भी लग सकता है ? इसी प्रकार सूक्ष्मशरीरके दोष आत्माको छू भी नहीं सकते। अतः सूक्ष्मशरीर या उसका अभिमानी जीव पतित होता है, आत्मा या परमात्मा नहीं।

(४) आत्मा या परमात्मा अनादि और अनन्त है। जन्म लेता है सूक्ष्मशरीर और वही मरता भी है। अज्ञानवश लोग आत्मापर उसका आरोप करते हैं। मनुष्य जन्म लेता है, इससे आत्माका जन्म लेना कैसे सिद्ध हुआ ? एक विशेष प्रकारके शरीरको मनुष्य कहते हैं। आत्माका शरीरसे क्या सम्बन्ध ? सूक्ष्मशरीरके द्वारा जो शुभाशुभ कर्म सम्पादित होते हैं, उन्हींके फलस्वरूप उसको मनुष्य आदि जीवोंके स्थूलशरीर प्राप्त होते हैं। शेष भगवत्कृपा।

निराश न होकर भगवान्‌पर विश्वास कीजिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपने अपने स्वास्थ्यकी और अर्थसम्बन्धी जो परिस्थिति लिखी, वह अवश्य विचारणीय है। परंतु आपका यह सोचना कि 'पत्नीसहित अपनेको समाप्त कर देना ही ठीक है' बिलकुल उचित नहीं है। स्वाभाविकरूपसे मृत्यु आ जाय, तब तो कोई उपाय नहीं है; परंतु संसारके दुःखोंसे घबराकर आत्महत्याका विचार करना बड़ा अपराध है। आपको इतना निराश नहीं होना चाहिये तथा भगवान्‌पर विश्वास रखकर चिकित्सा करानी चाहिये। श्रद्धापूर्वक भगवान्‌से करुण प्रार्थना करनी चाहिये। दयामय भगवान् उचित समझेंगे तो आपकी स्थितिमें आश्चर्यजनक परिवर्तन कर देंगे। आप ईश्वरका चिन्तन और उनसे विनय करते हैं, यह बड़ी अच्छी बात है। विशेष श्रद्धा तथा विश्वासके साथ दोनों काम करते रहिये। ऐसा कोई काम नहीं, जो भगवान्‌की कृपासे न हो सके।

धैर्य रखिये और भगवान्‌को हृदयमें लाइये। जब मनुष्य विश्वास, धैर्य और ईश्वरकी शरणागतिके द्वारा अपनेमें पवित्र भगवदीय प्रकाशको जाग्रत् कर लेता है, तब उसका मार्ग बहुत सरल हो जाता है और समस्त निराशाएँ, समस्त दुर्भाव, जो उसे पद-पदपर भयभीत करते थे—पथभ्रष्ट करना चाहते थे, सहज ही नष्ट हो जाते हैं और उसकी मझधारमें झोंके खाती हुई-सी दीखनेवाली जीवन-नौका बड़े आनन्दके साथ पार पहुँच जाती है।

आप अपना पूरा नाम-पता कृपया तुरंत लिख भेजिये; पता

मिलनेपर आपको व्यक्तिगत पत्रमें और भी एक ऐसा उपाय लिखा जायगा, जो 'कल्याण' में प्रकाशित नहीं किया जा सकता। आप घबराइये नहीं—**'हारिये न हिम्मत बिसारिये न हरि नाम।'** आपकी पत्नी यदि 'रामचरितमानस' का नवाह्न-पारायण आपके रोग नाशादिके लिये—

'दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥'

—यह सम्पुट लगाकर करती रहें तो बहुत उत्तम है। शेष भगवत्कृपा।

—★—

भगवान्‌के आश्रयसे दोषोंका नाश

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके चित्तमें नाना प्रकारकी चिन्ताएँ हैं, विषाद है, संदेह है, भूतकालके लिये पश्चात्ताप है, भविष्यके लिये व्याकुलता है और नाना प्रकारके भय हैं। इन सबके होनेमें चाहे कितने ही, कैसे भी कारण क्यों न हों, इन सबका नाश मनसे भगवान्‌का आश्रय ग्रहण करते ही हो जायगा; यह निश्चित है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(१८। ५८)

'मुझमें निरन्तर चित्त लगाता हुआ तू मेरी कृपासे सब संकटोंसे अनायास ही तर जायगा।'

प्रातःकाल उठते ही सबसे पहले भगवान्‌का स्मरण करके अपनेको उनके चरणोंमें डाल देना चाहिये। विभिन्न आवश्यकताओं, क्रियाओं और कर्तव्योंके विचार मनमें आनेसे पहले ही उन सबको भगवान्‌पर छोड़ देना चाहिये। ऐसा कौन-सा कठिन-से-कठिन कार्य है, जो भगवान्‌की कृपासे नहीं हो सकता। अपने पुरुषार्थ, अपनी कल्पना, अपनी बुद्धि आदिको परे रखकर भगवत्कृपाको, भगवान्‌की दिव्य चेतनाको सीधे काम करने देना चाहिये। कुछ ही दिन यह करनेपर आप देखेंगे कि आपका मन भगवान्‌के विशुद्ध प्रकाशसे भर जायगा और फिर उसमें भय, विषाद, संदेह, निराशा आदिका अन्धकार नहीं प्रवेश कर सकेगा।

अभी आपने भागवत प्रकाशके लिये अपने हृदयके द्वार बंद कर

रखे हैं और आप जो कुछ करना या पाना चाहते हैं, सब बाहरी प्रयत्नों, पदार्थों या प्राणियोंके द्वारा ही; तथा इन प्रयत्नों आदिमें भी शुद्धि नहीं है, सात्त्विकता नहीं है। एक तो भरोसा ही शक्तिहीन, प्राणहीन, सत्त्वहीन वस्तुओंका है। दूसरे, उस भरोसेकी सफलता चाहते हैं—झूठ, कपट, छल, द्वेष, हिंसा, मत्सर, क्रोध, ईर्ष्या आदि दुर्भावों एवं दुष्प्रवृत्तियोंके द्वारा। ऐसी हालतमें चिन्ता, विषाद, शोक, निराशाके अतिरिक्त और क्या मिलेगा ?

इस स्थितिसे निकलना चाहते हैं तो आप अपने हृदयके द्वार खोल दीजिये और भगवान्‌की कृपाशक्तिको अपने दिव्य, समर्थ और कभी असफल न होनेवाले भावोंके सहयोगसे निर्बाध काम करने दीजिये। अपनी कोई बात बीचमें न लाइये। फिर, कुछ ही समयमें आपको अपनी स्थितिमें प्रत्यक्ष परिवर्तन दिखायी देगा।

पर भगवान्‌का यह आश्रय करना पड़ेगा स्वयं आपको ही। दूसरा कोई जबरदस्ती आपसे यह नहीं करवा देगा। दूसरा आपको सम्मति दे सकता है, साहस और उत्साह दिला सकता है, पर आपके बदलेमें वह भगवान्‌का आश्रय नहीं ले सकता; अपने लिये यह अधिकार तो बस, आपको ही है। आप अपनी अन्तर्दृष्टिको भगवान्‌की ओर फिराइये। उनकी दयापूर्ण चरण-कमल-रजके आश्रयमें अपनेको डाल दीजिये; फिर उनकी कृपासे आपकी सारी कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी। आपके हृदयमें जब भगवान्‌की कृपाशक्ति आ जायगी, तब उसीके साथ-साथ निर्भयता, निश्चिन्तता, आनन्द, सुख, आशा, समाधान और परम विश्वास अपने-आप ही आ जायँगे। तभी आप परम सुखी हो सकेंगे। शेष भगवत्कृपा।

———★———

ईश्वरको माननेमें लाभ

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका लम्बा पत्र मिला। सब प्रश्नोंका विस्तारके साथ उत्तर लिखना तो मेरे लिये अभी बहुत कठिन है। संक्षेपसे ही लिख रहा हूँ। कृपया क्षमा कीजियेगा।

(१) ईश्वरवादीमात्र यही मानते हैं कि संसारकी रचना ईश्वरने ही की है, बल्कि अधिकांश अनुभवी महात्माओंने तो संसारके उपादान और निमित्त—दोनों ही कारण ईश्वरको माना है। जो लोग ईश्वरको नहीं मानते, उनसे किसीका कोई आग्रह नहीं है कि वे ईश्वरको मानें ही, यद्यपि माननेमें लाभ है। परंतु सर्वथा पराधीन और स्वल्प सामर्थ्यवाला मनुष्य-प्राणी—अपनी शक्तिसे एक मच्छर या चींटीतकको नहीं बना सकता—कहे कि 'ईश्वरको हमने बनाया है' तो इससे बढ़कर असत्य, दम्भ और मिथ्या अभिमान और क्या हो सकता है ? ईश्वरका अर्थ ही है—सबका स्वामी, सबका शासक, सब कुछ करने-न-करनेमें पूर्ण समर्थ। कोई भी मानव-प्राणी क्या कभी ऐसी सर्वसमर्थ प्रभु-सत्ताका निर्माण कर सकता है ?

आप बड़े गर्वसे लिखते हैं, 'मैं ईश्वरको नहीं मानता' न मानें। पर आपने कभी सोचा भी है कि ईश्वरको न माननेसे क्या हानि होती है ? मान लिजिये—ईश्वर नहीं है और आपने उसको माना तो आपको कोई नुकसान नहीं होगा। ईश्वरको माननेपर आप ईश्वरके भयसे पापकर्मसे दूर रहेंगे, ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिये सत्कर्म भी करेंगे। बुरे कर्मको बुरा और सत्कर्मको अच्छा तो आप मानते ही हैं। यह आपका लाभ हुआ। क्योंकि बुरे कर्मसे बचने और सत्कर्म करनेसे जगत्में तो

आपकी कीर्ति होगी ही। ईश्वरकी उपासनाके लिये आपने कुछ समय दिया—मान लीजिये, वह व्यर्थ गया; पर क्या आपके सारे समयका सदुपयोग ही होता है ? क्या वह अपने और समाजके अहितकर और व्यर्थ कार्योंमें नहीं लगता ? यदि लगता है तो फिर यदि थोड़ा-सा समय भगवदुपासनामें लग गया तो क्या हानि है ? आपने इतनी खोज तो की ही नहीं है कि जिसके बलपर आप यह कह सकें कि 'निश्चय ही ईश्वर नहीं है, हमने इस प्रकार खोज करके इसका भलीभाँति पता लगा लिया है।' मान लीजिये—यदि ईश्वर हुए और आपने उनको नहीं माना और उपासना नहीं की, तो आपका जीवन स्वेच्छाचारी तथा उच्छृङ्खल तो होगा ही, परमात्माकी प्राप्तिसे आप वञ्चित रह जायँगे और ईश्वरको मानकर उपासना करनेवाला ईश्वरको प्राप्त कर लेगा। अतएव ईश्वरको माननेमें ही लाभ है। उसमें कुछ बिगड़ता तो है ही नहीं। ईश्वरको हृदयसे मानकर यदि आप अपना कुछ समय—जो व्यर्थके हँसी-मजाक, सैर-सपाटे या निद्रामें बिता देते हैं—ईश्वरकी उपासनामें लगा देंगे तो आपको दुःखमें आश्वासन, हृदयमें शान्ति और जीवनमें सत्य-सदाचार आदिकी पवित्र प्रेरणा मिलेगी। ईश्वरको न माननेवालेपर भी दुःख तो आते ही हैं, पर उसे उसमें आश्वासन और धैर्य कहींसे भी नहीं मिलता।

ईश्वरके अस्तित्वके प्रमाण पद-पदपर मिलते हैं। जगत्‌की सुशृङ्खला, सूर्य-चन्द्र-नक्षत्रादिका नियमित कार्य आदि इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। फिर एक बड़ा प्रबल प्रमाण यह है कि ईश्वरको प्राप्त करनेके जो उपाय शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं, उनका ईमानदारीसे अवलम्बन करके ऐसा एक भी मनुष्य आजतक संसारमें नहीं हुआ , जो यह कहता हो कि मुझे ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हुई। अवश्य ही ईश्वर तर्कसे

सिद्ध होनेवाला तत्त्व नहीं है। जो समष्टि बुद्धिका भी कारण है, उसे नगण्य व्यष्टि बुद्धिसे सिद्ध करनेका प्रयत्न करना तो हास्यास्पद ही है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणके बिना ईश्वरको स्वीकार न करना भी वैसी ही वातुलता है, जैसी प्रत्यक्ष प्रमाणके अभावमें माताके कहनेपर भी पिताको अस्वीकार करना ! पिताके होनेमें जैसे माताके वचन प्रमाण हैं, वैसे ही ईश्वरके होनेमें शास्त्र तथा भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके वचन—आप्तवाक्य ही प्रमाण हैं।

(२) धर्मकी शिथिलता होनेपर भी संसारका कार्य चलता है, यह तो ठीक ही है। पर संसारका जिस किसी तरह कार्य चलना ही यथार्थ चलना नहीं है, सुव्यवस्थितरूपसे—सबके लिये कल्याणकारी तथा सुखकारी होकर चलना ही यथार्थ चलना है। जिन सरकारी विभागोंमें घूसखोरी, छल, कपट तथा बेईमानीकी भरमार है, वे विभाग भी तो चल ही रहे हैं। किसी कार्यका केवल चलना एक बात है और आदर्श तथा मङ्गलमय रूपमें चलना दूसरी। हमारी वर्णाश्रम-व्यवस्थामें जबतक दोष नहीं आये थे, तबतक हमारा समाज जिस आदर्शरूपमें चलता था, अबतकके विश्वके इतिहासमें वैसी आदर्श व्यवस्थासे पूर्ण सुसम्पन्न समाज कहीं देखा या सुना नहीं गया। कर्मोंका सम्यक् विभाजन, वंश-परम्परासे चली आती हुई रक्तमज्जागत विशिष्टताओंका पूर्ण उपयोग, सबका पारस्परिक सहयोग और अपने-अपने कर्मद्वारा एक-दूसरेका जीवन सुगम बनानेकी स्वाभाविक चेष्टा तथा आदर्श स्वार्थत्यागका ऐसा भव्य एवं सुन्दर सामञ्जस्य अन्यत्र कहीं मिलता ही नहीं। वर्णव्यवस्थाके सुदृढ़ दुर्गने ही अनेकों भीषण आक्रमणोंसे आर्यजातिकी संस्कृतिको सुरक्षित रखा, जब कि अन्यान्य अनेकों सभ्यताएँ, संस्कृतियाँ विजेताओंके प्रभावमें आकर नष्ट हो गयीं।

कर्म छोटा-बड़ा नहीं होता, यह तो आप मानते ही हैं। वंश-परम्परासे जिस कुलमें जो कर्म स्वाभाविक चले आ रहे हों, वे ही उस कुलके बालकके लिये सुसाध्य होते हैं—यह एक अनुभूत सत्य है। अब ब्राह्मणके जो स्वभाव, गुण आदि कहे गये हैं, जरा सोचकर बताइये—वे सब श्लाघ्य और आदरणीय हैं या नहीं ? धर्मके क्षेत्रमें जहाँ ब्राह्मणको जन्मसे ही पूज्य माना जाता है, वहाँ परलोक और पुनर्जन्मकी सत्ता मानकर ही ऐसा व्यवहार होता है। यदि आप धर्म और पुनर्जन्म तथा परलोकको मानते हैं, तब तो पुण्यके प्रारब्धसे प्राप्त ब्राह्मणयोनिमें जन्म लेनेवाला जन्मतः पवित्र है ही और धर्मके क्षेत्रमें उसकी पवित्रताका माना जाना उचित ही है। हाँ, यदि आप पुनर्जन्म, परलोक और धर्मको नहीं मानते, तब तो अवश्य ही आर्यसंस्कृतिकी यह जन्मगत पवित्रताकी मान्यता आपकी समझमें नहीं आ सकती।

(३) चोरी, हिंसा तथा परस्त्री-गमन आदि पापोंमें सारा दोष प्रायः इन पापोंको करनेवालेका ही है। इसके लिये समाज-शासनप्रणाली या शासनतन्त्रको दोष देना अनुचित है। कोई भी अच्छा समाज या शासनप्रणाली इन कामोंके लिये कभी किसीको प्रोत्साहित नहीं करती, वह तो इनको दण्डनीय ही मानती है। पाप होते हैं वस्तुतः हमारी विषयकामनासे—इन्द्रियसुखकी लालसासे। आप पूर्ति चाहते हैं अपनी कामनाकी, तृप्ति चाहते हैं अपनी इन्द्रियोंकी और इसके लिये दोषी ठहराना चाहते हैं किसी दूसरेको। यह तो स्पष्ट ही अपने ही मनका अपने-आपको धोखा देना है। जो कर्म करता है, वही उसका उत्तरदायी भी होता है।

(४) यह सत्य है कि आर्थिक दृष्टिसे भी गोवध बंद होना चाहिये; परंतु धार्मिक कारण बतलाना अन्धविश्वास है, यह बात

कदापि नहीं है। वरं इसका कोई धार्मिक पक्ष नहीं है, यह दुराग्रह स्वयं ही एक अन्धविश्वास है। आपने ऐसे कितने और कौन-कौन-से प्रयोग किये हैं और कौन-कौन-से कितने प्रमाण प्राप्त किये हैं, जिनके बलपर पुनर्जन्म, परलोक और धर्म आदिको असिद्ध बतलाते हैं? सुनी-सुनायी अप्रामाणिक बातोंको मान लेना ही अन्धविश्वास है। वैज्ञानिकोंसे भी भूल सम्भव है; क्योंकि वैज्ञानिक अभी अन्वेषणके मार्गमें हैं। वे अभी गन्तव्य स्थलतक नहीं पहुँच पाये हैं। इस अवस्थामें इन अधूरी खोजोंपर और मनकी कल्पनाओंपर दुराग्रह करना अन्धविश्वास है या शास्त्रोंपर जो महान् तपस्वी त्रिकालज्ञ ऋषियोंके अनुभूतिपूर्ण वचन हैं तथा जिनमें भ्रम, त्रुटि एवं संदेहको स्थान ही नहीं है—आस्था रखनेवालोंका उन शास्त्रोंपर अपनी मान्यता स्थिर करना अन्धविश्वास है?

हमारा धर्म बलात् किसीके स्वत्वको छीनना नहीं चाहता; किंतु अव्यावहारिक मनःकल्पित कुतर्कोंको भी वह स्वीकार नहीं करता। गोपालन करके बछड़ेके जीवन-निर्वाहार्थ पर्याप्त दूध छोड़कर, उसके पालन-पोषण, रक्षण-संवर्धनकी पूरी व्यवस्था करके गौका दूध लेना भी स्वत्वहरण है—ऐसी बात जो लोग कहते हैं, वे केवल कुतर्क ही करते हैं। फिर तो तमाम पेड़ोंके फलोंपर पक्षियोंका स्वत्व एवं खेतोंकी सारी उपजपर या अन्नमात्रपर पशुओंका ही स्वत्व मानना चाहिये। ऐसे कुतर्क इसीलिये उठाये जाते हैं कि शास्त्रीय परम्पराके सामने सिर झुकाते आजके लोगोंके गर्वपर ठेस-सी लगती है और बिना आधारका तर्क तो मनुष्यको भ्रममें ही डालता है। मनुष्य भलीभाँति गोपालन करके जो दूध लेता है, खेतों और वृक्षोंसे जो धान्य तथा फल लेता है, वह उसका स्वत्व ही है; क्योंकि वह उसके श्रम और

****

सेवाका पुरस्कार है।

(५) आप पहले कृपया यह समझनेका प्रयत्न करें कि मुक्ति क्या है; इसके पश्चात् यह जाननेकी चेष्टा करें कि वह कैसे मिलती है। जबतक पुनर्जन्म, परलोक और कर्मबन्धन ही समझमें नहीं आते, तबतक मुक्तिका प्रश्न व्यर्थ है। जो परलोक-पुनर्जन्मको मानता है, गङ्गास्नान, तीर्थसेवन, श्राद्ध और ब्राह्मणभोजनके फलकी बात भी वही समझ सकता है।

(६) यह किसने कहा कि 'राम-नाम' जपनेवालेको प्रकृतिके प्रतिकूल कार्य करनेकी छूट है। प्रकृतिके अनुकूल चलनेपर अनुकूल और प्रतिकूल चलनेपर प्रतिकूल प्रभाव शरीरपर पड़ेगा ही। 'राम-नाम' के जपका तो सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है—मनपर। आप एकाग्र मनसे प्रतिदिन नियमपूर्वक बीस मिनट 'राम-नाम' जपका अभ्यास दो महीनेतक लगातार कर लें तो आपको स्वयं इसके प्रभावका पता लग जायगा।

(७) किसी भी संस्थाको भला-बुरा बतलानेसे पहले उसके उद्देश्य, नियम तथा कार्यप्रणालीको भलीभाँति देखना-समझना आवश्यक है। देख-समझकर ही आलोचना करनी चाहिये। व्यक्ति तो सभी जगह अच्छे-बुरे हो सकते हैं; पाँचों अँगुलियाँ भी समान नहीं होतीं।

उपर्युक्त उत्तर बहुत संक्षेपमें लिखनेपर भी पत्र बड़ा हो गया है। आपका इससे कुछ समाधान हुआ तो आनन्दकी बात है; न हुआ तो भी आनन्द ही है। अपने विचारमात्र व्यक्त किये गये हैं। शेष भगवत्कृपा।

——★——

प्रणवके संयोगसे लाभ

प्रिय महोदय। सादर सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, धन्यवाद। आपके पूज्य गुरुजीका यह कथन कि '**रां रामाय नमः**' इस षडक्षर मन्त्रमें '**ॐ**' लगानेकी आवश्यकता नहीं है, '**रां**' ही उसमें प्रणवका कार्य करता है, बिलकुल ठीक है। मन्त्रका स्वरूप तो उतना ही है। फिर भी यदि कोई '**ॐ**' लगाये तो दोष नहीं है। '**ॐ**' भगवान्‌का पवित्र नाम है, उसे मन्त्रके आरम्भमें जोड़कर जप करनेसे मन्त्रकी शक्ति बढ़ती ही है। यही बात 'नवार्णमन्त्र' के सम्बन्धमें समझनी चाहिये। 'नवार्ण' में '**ऐं, ह्रीं, क्लीं**'—ये तीन ही बीज हैं। नवार्ण या नवाक्षर मन्त्र—'**ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे**' बिना '**ॐ**' के ही है, तथापि '**ॐ**' लगाकर जपनेका शिष्टाचार सर्वत्र देखा जाता है और उसमें साद्‌गुण्यका ही आधान होता है। आप अपने गुरुजीके आज्ञानुसार बिना '**ॐ**' के ही दोनों मन्त्रोंका जप कर सकते हैं। पर जो लोग '**ॐ**' लगाकर जप करते हैं, वे भी ठीक ही करते हैं, यों मानना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

═══★═══

भगवान् विष्णु और श्रीकृष्ण एक ही हैं

प्रिय बहन ! सादर हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आप श्रीकृष्णकी उपासना करती हैं और द्वादशाक्षर मन्त्र (**'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'**) का जप करती हैं, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। भगवान् श्रीविष्णु और भगवान् श्रीकृष्ण एक ही हैं। अतः आप इसी मन्त्रका जप करती रहें, छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

प्राणायामसम्बन्धी लेख पढ़कर प्राणायाम आपको नहीं करना चाहिये। प्राणायामकी क्रिया ठीक न होनेपर तरह-तरहके रोग हो जाते हैं, जिनका मिटना बहुत कठिन होता है। अनुभवी योगीकी संनिधिमें रहकर ही योगाभ्यास करना उचित होता है। ऐसे अनुभवी योगी प्रथम तो मिलने कठिन हैं; और यदि कोई ऐसे माने भी जायँ तो स्त्रीका किसी भी परपुरुषकी संनिधिमें रहना सर्वथा अधर्म है तथा महान् हानिकारक होनेसे वर्जित है।

इस युगमें सर्वोत्तम साधन है—भगवान्‌के नामका जप। मैं तो आपसे अनुरोध करता हूँ, आप भगवन्नामजपका अभ्यास करें। यह सर्वथा निरापद है और ऊँचे-से-ऊँचा फल देनेवाला है। शेष भगवत्कृपा।

══★══

प्रणवका जप शुद्ध होकर करना चाहिये

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला, धन्यवाद। आपने सब समय '**ॐ**' (प्रणव) के जप तथा संध्याके सम्बन्धमें जो कुछ पूछा है, उसके उत्तरमें निवेदन है कि 'प्रणव' का जप शुद्ध स्थितिमें ही करना चाहिये; हर समय, हर अवस्थामें नहीं। कइयोंकी ऐसी भी मान्यता है कि अकेले प्रणवका जप गृहस्थको नहीं करना चाहिये। किसी भगवन्नामके साथ जोड़कर—जैसे '**हरिः ॐ**' '**ॐ नमो नारायणाय**'—इस प्रकार करना चाहिये। जो कुछ भी हो, अशुद्ध-अवस्थामें तो इसका जप निषिद्ध है ही। एकाग्र मनसे छः महीनेतक नियमपूर्वक प्रणवका नित्य बारह हजार जप करनेसे संन्यासीकी चित्तशुद्धि होकर उसे तत्त्वसाक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त होती है—यह कहा गया है। जपकी संख्यासे जहाँ फलका विधान होता है, वहाँ श्रद्धा-सत्कार और एकाग्र मनसे किये जानेवाले जपकी बात ही समझनी चाहिये।

भजन-स्मरणको संध्या नहीं माना जा सकता; द्विजको प्राणायाम, सूर्योपस्थान तथा गायत्री-जपसहित संध्या अवश्य करनी चाहिये। त्रिकाल नहीं तो, प्रातः-सायं—दो समय तो अवश्य करें। गायत्रीकी एक-एक माला दोनों समय जप करें, नहीं तो कम-से-कम २१-२१ मन्त्रका जप तो अवश्य कर लें। शेष भगवत्कृपा।

—★—

जीवन्मुक्तके द्वारा वस्तुतः कर्म नहीं होते

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला, धन्यवाद। आपने पूछा कि 'जीवन्मुक्त पुरुषके द्वारा कर्म होते हैं या नहीं ? यदि होते हैं तो किस प्रकार होते हैं ?' और इसके उत्तरमें विस्तारपूर्वक लिखनेका अनुरोध किया, यह आपकी कृपा है। परंतु पत्रमें बहुत विस्तारके लिये पर्याप्त समय चाहिये; अतः प्रश्नका उत्तर ठीक-ठीक समझमें आ जाय, इस दृष्टिको सामने रखते हुए मैं संक्षेपमें ही लिखनेका प्रयत्न करता हूँ।

जीवन्मुक्त पुरुषके द्वारा वास्तवमें कर्म नहीं होते; क्योंकि ज्ञानाग्निके द्वारा उसके समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

(४। ३७)

'अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनको भस्मसात् कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्मसात् कर देती है।' उपनिषदोंमें भी देखनेमें आता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक० २। २। ८)

'उस परावर परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर जड-चेतनकी एकात्मतारूप हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है—जड देहादिमें होनेवाले

आत्माभिमानका नाश हो जाता है, समस्त संशयोंका उच्छेद हो जाता है और सम्पूर्ण कर्म (बीजसहित) नष्ट हो जाते हैं।'

वस्तुतः 'कर्म' संज्ञा वहीं सिद्ध होती है, जहाँ कोई 'कर्ता' होता है। जीवन्मुक्तमें कर्तापनका अहंकार रहता नहीं, इसलिये उसके द्वारा कर्म नहीं होते।

ऐसी बात होनेपर भी अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंके द्वारा यथायोग्य कर्म होते रहते हैं और राग-द्वेष, कामना-वासना तथा ममता-अहंकारसे रहित होनेके कारण वे कर्म सहज ही परम उज्ज्वल, आदर्शरूप तथा सबके लिये हितकारी भी होते हैं। जीवन्मुक्त पुरुषका न तो उन कर्मोंसे कोई सम्बन्ध होता है; क्योंकि उसका अन्तःकरणसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता और न उन कर्मोंके होनेमें कोई बाधा आती है; क्योंकि समष्टि चेतनकी सत्तासे बिना कर्तृत्वाभिमानके पूर्वाभ्यास तथा प्रारब्धानुसार वे होते रहते हैं।

हाँ, जीवन्मुक्त—भगवत्प्राप्त पुरुषके अन्तःकरणमें काम-क्रोधादि विकार या दोष नहीं रहते; क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिसे पूर्व ही अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है और उस अहंकाररहित शुद्ध अन्तःकरणमें काम-क्रोधादि विकारोंके उत्पन्न होनेका कोई कारण नहीं रह जाता। आपने कुछ लोगोंके उदाहरण देकर जो काम-क्रोधादिका होना बतलाया है, इस सम्बन्धमें मुझे पता नहीं, वे लोग जीवन्मुक्त थे या नहीं; मान्यता तो सिद्धान्तकी होनी चाहिये, न कि किसी पुरुषविशेषके आचरणकी। शेष भगवत्कृपा।

★

पुराना सब बुरा, नया सब अच्छा ?

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। समाचार विदित हुए। आपको यह विश्वास हो गया है कि पुरानी बातें सभी घृणित थीं और नयी सभी अच्छी हैं, इसलिये आप नवीनताके उपासक और प्राचीनताके विनाशक बन गये हैं, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आपको ही नहीं, आज बहुतोंको दुर्भाग्यवश ऐसा ही विश्वास न्यूनाधिकरूपमें हो रहा है। 'नवीनता' के और 'प्रगति' के मोहक नामोंपर आसुरी भावोंका आना तो बहुत ही सहज है; अनेकों बार तो कर्तव्य, नीति, धर्म और अध्यात्मके नामपर भी आसुरी शक्तियाँ अपना काम किया करती हैं। जब मनुष्यकी बुद्धि तमसाच्छन्न हो जाती है, तब उसे सब कुछ विपरीत ही भासता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(१८।३२)

'अर्जुन ! जो तमोगुणसे ढकी हुई बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है एवं सारे ही अर्थोंको (सभी बातोंको) विपरीत ही देखती है, वह बुद्धि तामसी है।'

यह कोई नहीं कह सकता कि पुरानी बातें सभी अच्छी थीं और उनका अंधे होकर अनुसरण करना चाहिये या नवीन जगत्‌की प्रत्येक वस्तुका बहिष्कार ही करना चाहिये। ऐसी बात कहना न तो बुद्धिमत्ता है और न व्यावहारिक ही। जगत्‌में बहुत-से दोष हैं, उनको हटाना भी

परम आवश्यक है। परंतु, जैसे अंधे होकर प्राचीनका अनुसरण बुरा तथा हानिप्रद है, वैसे ही अंधे होकर पुरातनका त्याग और नवीनका ग्रहण भी अत्यन्त अनिष्ट और हानिप्रद है। इस समय जगत्में आसुरी शक्तियोंका बड़ा प्राबल्य है; वे उन्नति, प्रगति, सुधार, उद्धार, समत्व, आर्थिक समुन्नति आदि अनेकों मोहक रूपोंमें जनतापर आक्रमण कर रही हैं और बड़ी ही चतुराईसे विषय-वासना, आसक्ति, काम, क्रोध, लोभ, हिंसा और छल-कपटकी मायाका जाल फैला रही हैं। कोई वस्तु पुरानी है, इसीलिये उसका नाश कर देना चाहिये, चाहे वह सत्य, शिव और सुन्दर ही हो—यह एक प्रकारका पागलपन है, इससे सावधान रहना चाहिये। पर क्या किया जाय। आसुरी भावनाकी (**माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः**) मायाने ज्ञान हर जो लिया है। भगवान्की ओर जाते हुए समाजको मायामुग्ध करके कल्याणमार्गसे विमुख कर देना, मानवको विलास-वैभव और वैर-हिंसाके विषभरे स्तरपर पहुँचानेका प्रयास करना, नाना प्रकारके कपट-छलसे उसे नीचे गिरा देना—आसुरी शक्तियाँ बड़ी आतुरतासे इसी घातमें रहती हैं और अवसर पाते ही अपना काम बड़ी प्रबलतासे आरम्भ कर देती हैं। तमोमयी आसुरी शक्तियोंके प्रयासका ही फल है कि आज समता, उन्नति, सुधार, समाजके आर्थिक अभ्युदय, मनोरञ्जन उच्च स्तरके जीवन-निर्माण आदि नामोंपर भ्रष्टाचार, अनाचार, चोरी, डकैती, कलह, वैर, संहार, दलबंदी, सहस्रों वाद और मत, असंतोष और अशान्ति आदिका उद्दाम नग्ननृत्य हो रहा है और उसको जागृति, उन्नति, प्रगति, विकास, समत्व आदिका नाम देकर मिथ्या गर्व किया जा रहा है। यहाँतक कि ललित कला—जैसे चित्रकला, संगीतकला, नृत्यकला आदिको सांस्कृतिक प्रतीक बताकर असंयतरूपमें उनका

प्रचार-प्रसार करके जगत्में कामुकता, उच्छृङ्खलता, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, अनाचार और असत्य आदिको गर्व तथा गौरवके साथ अपनाया जा रहा है। धर्म तथा ईश्वरके भयकी बात तो रही ही नहीं। ऐसे कामोंके लिये कानूनी छूट चाही जाती है और वह दी भी जा रही है। गंदे चित्र, गंदे गाने, नग्ननृत्य, भले घरोंकी कन्याओंका सिनेमाकी अभिनेत्री बननेमें उल्लास-उत्साह, समाजमें उनका गौरव, विद्यार्थी और अध्यापकसमाजमें भी उनकी प्रतिष्ठा-पूजा तथा सत्कार, सफाईके साथ चोरीसे धन कमानेकी प्रवृत्ति और ऐसे सफल धनिकोंका समाजमें सम्मान आदि सब तमोमय विपरीत दर्शन आसुरी शक्तियोंके प्रबल षड्यन्त्र और उनके बाहर-भीतर मोहकरूपसे आक्रमणका ही परिणाम है। इसीसे पवित्र, सुन्दर, सत्य और कल्याणकारी भी प्राचीनमें अविश्वास एवं घृणा तथा सर्वथा अपवित्र, अंदरसे अपार असुन्दर, मिथ्या और हानिकारक भी अर्वाचीनमें विश्वास एवं प्रीति हो रही है। भगवान्ने आसुरी सम्पत्तिके तीन रूप बतलाये हैं—मोहिनी, आसुरी और राक्षसी। 'मोहिनी' 'काम' में फँसाती है, 'आसुरी' 'लोभ' में और 'राक्षसी' 'क्रोध' में। ये काम, क्रोध, लोभ ही आत्माका पतन करके उसे नरकानलमें जलानेवाले हैं। भगवान्ने स्पष्ट ही कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६।२१)

'काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार तथा आत्माका नाश करनेवाले हैं। इससे इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये।'

आज व्यष्टि-समष्टि—सभी इन त्रिविध वैरियोंके वशमें होकर

अपना सर्वनाश कर रहे हैं। इसीका फल महान् दुःख है, जिससे सारा जगत् संत्रस्त है और इसी कारण जगत्‌में अभी दुःखोंकी और भी भयानक बाढ़ आनेकी सम्भावना है। इन बुराइयोंसे छूटनेका एक ही उपाय है—वह है भगवान्‌की शरणागति, भगवान्‌का भजन। भगवान्‌ने कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७। १४)

'मेरी यह त्रिगुणमयी दैवी माया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो भी मेरे शरण हो जाते हैं, वे इस मायासे तर जाते हैं।'

मायासे तरनेका यह उपाय तो कोई करता नहीं, अपितु जिससे दुःख-संताप बढ़ते हैं, नरकाग्निमें जलना पड़ता है, उस काम-क्रोध-लोभके आश्रयको ही हम पकड़े रहते हैं तब कैसे जगत्‌का वास्तविक सुधार-संस्कार होगा, कैसे असली समत्वकी प्राप्ति होगी, कैसे सुख होगा और कैसे सच्ची शान्ति होगी।

आपको बुरा लग सकता है; पर सत्य यही है कि तमोगुणके प्रभावसे आपकी बुद्धि सब कुछ विपरीत देख रही है और वास्तविक लाभकी दृष्टिसे इससे छुटकारा पाना आपके लिये नितान्त आवश्यक है। शेष भगवत्कृपा।

——★——

है कि अशुद्ध धनकी समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त हो रही है। उसके लिये कोई भी नैतिक या सामाजिक दण्ड नहीं है। समाजका सबसे बड़ा दण्ड होता है—'किसीसे घृणा करना।' अब घृणा कौन करे—घृणा मनसे होती है; पर जब सभी लोग यही करते हैं और करना चाहते हैं, तब अन्यायसे पैसा कमानेवालेके प्रति किसके मनमें कैसे घृणा होगी।

(२) पापकर्म बनना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। मनुष्य दुर्बल प्राणी है। मन, इन्द्रियाँ उसके वशमें नहीं हैं, वह परिस्थितिसे बाध्य है। इससे अनिच्छा होनेपर भी परिस्थिति, अभ्यास या आसक्तिके कारण पाप बन जाता है। यहाँ देखना तो यह है कि पापसे उसका मन घबराता है, घृणा करता है, पाप उसके हृदयमें शूल-सा चुभता है एवं उसे पश्चात्ताप होता है अथवा वह उत्साहसे रुचिपूर्वक पाप करता है, पाप उसे प्रिय प्रतीत होता है एवं पाप करके वह गर्व-गौरवका अनुभव करता है। यदि पापमें घृणा है और पाप करनेके बाद हृदय जलता है तो उसके लिये उपाय है—सीधा उपाय है। वह उपाय है—दयासागर भगवान्‌की दयापर विश्वास करके उन्हें पुकारना, प्रार्थना करना। यह कहना कि 'भगवन्! मेरा मन वशमें नहीं है, इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, मेरे हृदयमें विषय-वासना भरी है, इच्छा न होनेपर भी अवसर आनेपर मैं अपनेको सँभाल नहीं पाता, पापमें प्रवृत्त हो जाता हूँ और उस समय मुझे उसमें सुख मिलता है। परंतु नाथ! आप अन्तर्यामी हैं, सब जानते हैं—पीछे मैं जला करता हूँ। अभी भी मेरा हृदय पापके पश्चात्तापसे जल रहा है। आप शक्ति दीजिये। दया करके मुझे पापसे बचाइये, मेरी रक्षा कीजिये। पापका अवसर आनेपर मैं पापपर प्रहार करके उसपर विजय पा सकूँ—ऐसी ही व्यवस्था कर दीजिये। मैं केवल आपके भरोसे हूँ। मुझ-सरीखे बार-बार पाप-पङ्कमें फँसनेवालेपर, आपके सिवा दूसरा कौन है, जो सौहार्द रखे, जो दया करे। एकमात्र आप ही ऐसे हैं, जिनका दिव्य

द्वार मुझ-सरीखे पापी-तापीके लिये भी सदा खुला है, जिनकी गोद मुझ-सरीखे मलायतन नीचको भी स्थान देनेके लिये सदा तैयार है। मैं कहाँ जाऊँ, मेरी सुननेवाला आपके सिवा और कौन है।' इस प्रकारके निश्चयसे कातरताके साथ ऐसी प्रार्थना करनेपर तुरंत सुनवाई होती है। भगवान् पापोंको नहीं देखते, वे देखते हैं हृदयके वर्तमान यथार्थ भावको। और जब सच्चा विश्वास देख पाते हैं, तब तुरंत उसे अपनाकर उसके पाप-तापोंका नाशकर उसे अपना भक्त बना लेते हैं और उसके लिये सनातनी शान्तिका मङ्गल-विधान करके उसके भक्त होने तथा कभी पतन न होनेकी घोषणा कर देते हैं। देखिये गीताके नवम अध्यायके तीसवें-इकतीसवें दो श्लोकोंको—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

'यदि अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी अनन्यभावसे मेरा आश्रय ग्रहण करके मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि उसका निश्चय यथार्थ है। वह तुरंत ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमा शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तुम सत्य जानो—मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

अतएव घबराने तथा निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है, सच्चे भावसे भगवान्‌को पुकारिये। पापोंका नाश हो जायगा, आप भक्त बन जायँगे। परंतु इसलिये प्रार्थना मत कीजिये कि इससे आपको पाप करनेमें सुविधा हो जाय। 'नित्य पाप करते जाओ और प्रार्थनासे उसे धोते जाओ'—यह धोखा है। जो प्रार्थनाके बलपर पाप करना चाहता है, उसके पाप वज्रलेप हो जाते हैं। शेष भगवत्कृपा।

—★—

नारीका गुरु पति ही है

प्रिय बहन ! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि जब किसी भी पुरुषको गुरु बनाना और उनकी शरण लेना स्त्रीके लिये पाप है, तब भगवान्‌को गुरु बनाना और उनकी शरण होना भी तो पाप ही होगा; क्योंकि भगवान् भी तो पर-पुरुष हैं। इसके उत्तरमें निवेदन है कि पतिव्रता स्त्रीके लिये तो शास्त्रोंकी यही आज्ञा है कि वह केवल पतिको ही गुरु माने और पतिमें ही परमेश्वर-बुद्धि करके उसकी सेवा करे। स्त्रीका गुरु एकमात्र पति ही है। बृहन्नारदीयपुराणमें कहा गया है—

भर्ता नाथो गतिर्भर्ता दैवतं गुरुरेव च।

(उत्तरभाग १४।४०)

'स्त्रीके लिये पति ही स्वामी है, पति ही गति है, पति ही देवता और गुरु भी है।'

स्कन्दपुराण, काशीखण्ड तथा ब्रह्मपुराणमें उल्लेख है—

भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च।
तस्मात् सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत्॥

(स्क० का० ४।४८)

'स्त्रीके लिये पति ही देवता, पति ही गुरु और पति ही धर्म, तीर्थ तथा व्रत है। इसलिये सब कुछ त्यागकर वह एक पतिकी ही भलीभाँति सेवा-पूजा करे।'

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥

(ब्रह्म० ८०।४७)

****

'ब्राह्मणोंके लिये अग्नि गुरु है, वर्णोंमें ब्राह्मण गुरु है, स्त्रियोंका पति गुरु है और अभ्यागत सबका गुरु है।'

भगवती सीताजीने कहा है—

पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः।
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः॥

(वा० रा० ७। ४८। १७)

'स्त्रीके लिये तो पति ही देवता, पति ही बन्धु तथा पति ही गुरु है। अतएव प्राण देकर भी नारीको विशेषरूपसे पतिका प्रिय कार्य करना चाहिये।'

पद्मपुराणमें पतिव्रता-शिरोमणि देवी सुकलाके इतिहासमें भगवान् विष्णुके राजा वेनके प्रति वचन हैं—

भर्ता नाथो गुरुर्भर्ता देवता दैवतैः सह।
भर्ता तीर्थं च पुण्यं च नारीणां नृपनन्दन॥

(भूमि० ४१। ७५)

राजन्! पति ही स्त्रीका स्वामी, पति ही गुरु, पति ही देवताओं-सहित उसका इष्ट देवता एवं पति ही तीर्थ तथा पुण्य है।'

इसलिये स्त्रीको पतिरूपमें ही परमेश्वरकी सेवा करनी चाहिये। तथापि स्त्री यदि भगवान्‌की पूजा-अर्चना करे तो उसमें कोई दोषकी बात नहीं है; क्योंकि भगवान् सबके अन्तरात्मा हैं, प्रियतम हैं, स्वामी हैं, सद्गुरु हैं तथा सर्वस्व हैं। अतएव परमात्माकी सेवासे सतीत्वमें कोई बाधा नहीं आती; वे परपुरुष नहीं हैं, वे तो अपने आत्मा ही हैं। हाँ, परमात्मा बननेवाले मनुष्योंसे अवश्य सावधान रहना चाहिये; क्योंकि वे निश्चय ही परपुरुष हैं और उनकी सेवासे सतीत्वकी मर्यादापर आघात लगना सम्भव है। अपने लिये तो भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

(गीता ९ । ३२)

'अर्जुन ! जो प्राणी पाप-योनिवाले हों, वे भी तथा स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्रादि भी मेरे शरण हो जायँ तो वे परम गतिको प्राप्त होते हैं ।'

इसलिये भगवान्‌की उपासनामें कोई पाप नहीं है, वरं भगवान्‌की उपासना ही परम धर्म है। स्त्रीको पतिकी उपासना भी भगवान्‌की उपासनाके रूपमें ही करनी चाहिये—भोग प्राप्त करानेवाले किसी मनुष्य-विशेषके रूपमें नहीं। यही नारी-धर्म है। इस नारी-धर्ममें श्रद्धा-विश्वास तथा सत्यताके साथ लगी हुई स्त्रीको इसीसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है। शेष भगवत्कृपा।

——★——

वेश्या-सेवन तथा मांस-भक्षण पाप ही हैं

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके प्रश्नोंका उत्तर निम्नलिखित है—

(१) आपने लिखा कि 'वेश्याकी जीविका परपुरुषका सेवन है, उसका यह सहज पेशा है तथा जो आदमी वेश्याके पास जाता है, वह उसे पैसा देता है। फिर यह पाप क्यों माना जाता है?' आपका यह प्रश्न बड़ा विचित्र है। फिर तो चोर-डकैत कहेंगे कि 'चोरी-डकैती हमारी जीविका है, इसमें पाप कैसा?' और पैसा देकर किसीकी हत्या करानेवाला कहेगा कि 'मैंने पैसे दिये हैं, इससे वह पाप क्यों?' वास्तवमें वेश्याका परपुरुष-सेवन तथा किसी पुरुषका वेश्या-सेवन तो पाप ही है। जो लोग ऐसा काम करते हैं, वे तो पाप करते ही हैं और जो इसमें सहायता करते हैं तथा इसका समर्थन करते हैं, वे भी पाप ही करते हैं।

(२) आप लिखते हैं कि 'प्राचीन क़ालमें अच्छे-अच्छे लोग मांस खाते थे, इसलिये अब मांस खानेमें क्यों आपत्ति होनी चाहिये?' इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो यह कहा भी नहीं जा सकता कि प्राचीन कालमें अच्छे लोग मांस खाते थे; क्योंकि अच्छे लोगोंने तो मांसकी जगह-जगह बड़ी निन्दा की है। फिर यदि प्राचीन कालमें कोई मांस खाता भी हो तो उसकी देखा-देखी अब भी मांस खाना चाहिये, यह सोचना बुद्धिसंगत नहीं है। मांस खाना पाप है; क्योंकि मांस बिना जीव-हिंसाके मिलता नहीं। ऐसी दशामें इस पापको करनेवाला चाहे प्राचीन कालका मनुष्य हो, चाहे अर्वाचीनका, वह पाप ही करता है। मांस खाना राक्षसोंका काम है। इसलिये मांसका सर्वथा

त्याग ही करना चाहिये। प्राचीन लोगोंने बड़े-बड़े त्याग किये थे, उनका अनुकरण करनेकी बात तो नहीं की जाती; पर किसीने मांस खाया था, व्यभिचार किया था तो उसकी नकल करनी चाहिये—यह वास्तवमें अपने पापवासनासे पूर्ण चित्तका धोखा है, इस धोखेसे अवश्य बचना चाहिये।

(३) आप लिखते हैं कि 'मैं भजन करना चाहता हूँ, पर भजन नहीं बनता।' आप भजन करना चाहते हैं—यह तो बहुत ही अच्छी बात है। भगवान्‌की बड़ी कृपा है आपपर और कोई महान् पुण्य आपका सहायक है—चाहे वह आपका हो या आपके पूर्वपुरुषोंका—जिसके कारण आपके मनमें भजनकी चाह होती है। चाह होती है तो कुछ-न-कुछ भजन भी होता ही होगा; यह चाह भी तो भजन ही है। परंतु भजन नहीं बनता—इसका कारण तो प्रत्यक्ष है। आप वेश्या-सेवनको बुरा नहीं मानते और मांस खानेका भी समर्थन करते हैं और आपके लिखनेके अनुसार ये दोनों दोष आपमें हैं भी। मनुष्यमें दोष हो सकते हैं। अवश्य ही यदि वह उन्हें दोष मानता है तो उनसे छूटनेकी चेष्टा भी करता है, पर आप तो इन्हें दोष ही नहीं मानते ! तब भगवान्‌का भजन कैसे बनेगा। भजन तो वेश्या और मांसका बन रहा है। इसीसे आप 'परपुरुष-सेवन वेश्याकी जीविका है और प्राचीन कालमें अच्छे लोग मांस खाते थे'—यह तर्क रखकर मुझसे भी इनका समर्थन चाहते हैं ! भाई साहब ! इस पापके पथका परित्याग कर दीजिये। आप वेश्या और मांसका कभी सेवन नहीं करेंगे, यह दृढ़ प्रतिज्ञा कीजिये और प्रतिज्ञा कीजिये इन्हें सर्वथा पाप समझकर, केवल मेरे कहनेसे ही नहीं। मेरे कहनेसे त्याग देंगे, तो भी आपको लाभ तो होगा ही और मैं भी आपका उपकार मानूँगा; पर आपके द्वारा इनका यथार्थ त्याग तो तभी होगा, जब आपकी बुद्धि इन्हें पाप मान लेगी। शेष भगवत्कृपा।

——★——

मृत्युके बाद कैसा शरीर मिलता है ?

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला था। आपने जिन प्रसङ्गोंकी बातें लिखी हैं, वे झूठी भी हो सकती हैं और सच्ची भी। मेरा तो विश्वास है, इस प्रकारकी घटनाओंमें अधिकतर दो चीजें होती हैं—(१) अपने मनके वहम—मानसिक कल्पनाका परिणाम और ढोंग। मैंने कई जगह ऐसा ही अनुभव किया है; परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रेतयोनि होती ही नहीं। प्रेतयोनि होती है और प्रेतलोग राग-द्वेषवश अपनी-अपनी न्यूनाधिक शक्तिसामर्थ्यके अनुसार क्रिया भी करते हैं, जो किसीके अनुकूल होती है और किसीके प्रतिकूल। मरनेके बाद आतिवाहिक देहके अनन्तर कर्मानुसार जीवोंको जब देवदेह या प्रेतदेह मिलता है, तब उसके रूप, रंग, वय वैसे ही होते हैं जैसे इस जन्ममें थे। भेद इतना ही होता है कि देवादि-देह तेजःप्रधान होनेसे दिव्य प्रकाशमय, उज्ज्वल होते हैं और प्रेतादि-देह वायुप्रधान होनेसे प्रकाशरहित या तमोयुक्त होते हैं। देव-देह भी पहचाने जा सकते हैं—रामायणमें जब लङ्काविजयके पश्चात् महाराज दशरथ देव-देहसे पधारते हैं, तब सब उन्हें पहचान लेते हैं। दिव्यलोकमें भगवान्‌की सेवा करते हुए अर्जुनको युधिष्ठिर महाराजने पहचान लिया था, यह कथा महाभारतके स्वर्गारोहणपर्वमें आती है। इसी प्रकार प्रेतदेह भी पहचाने जा सकते हैं; क्योंकि वे भी उसी शकल-सूरतके होते हैं, जो पूर्व उनके शरीरकी थी। शास्त्रोंमें भी इसके अनेक प्रमाण हैं। यहाँ श्रीमार्कण्डेयपुराणका एक प्रमाण उद्धृत किया जाता है—

वाय्वग्रसारी तद्रूपं देहमन्यं प्रपद्यते।
तत्कर्मजं यातनार्थं न मातृपितृसम्भवम्।
तत्प्रमाणवयोऽवस्थासंस्थानैः प्राग्भवं यथा॥

(१०।६४)

'(मृत्युके बाद मनुष्य) वायुके सहारे चलनेवाला—अर्थात् वायुप्रधान वैसे ही दूसरे शरीरको धारण कर लेता है, जो रूप, रंग, उम्र, अवस्था आदिमें ठीक पहले-जैसा ही होता है। यह शरीर माता-पिताके द्वारा उत्पन्न नहीं होता, कर्मजनित होता है और यातनाभोगके लिये ही मिलता है।'

इससे आप समझ गये होंगे कि तत्त्वतः ऐसी बातें सत्य हैं; परंतु जो हो रहा है, उसमें तो अधिकांश ठगी या वहम ही सम्भव है और इन दोनोंसे बचना ही चाहिये।

इनसे बचकर भी, मृत-सम्बन्धियोंके प्रति आदरपूर्वक व्यवहार करना चाहिये और उनके लिये यथायोग्य अन्न-जल-वस्त्रादिका दान तथा श्राद्ध-तर्पण आदि अवश्य करने चाहिये। गयाश्राद्ध भी परम आवश्यक है।

—★—

स्वतन्त्र विवाह

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने कालेजमें शिक्षा प्राप्त करनेवाली एक सत्रह वर्षकी क्षत्रियकन्या और उन्नीस वर्षके ब्राह्मणयुवकमें प्रेम होने, उनके परस्पर विवाह करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा करने और कन्याके अभिभावकोंद्वारा इसके विरुद्ध मत प्रकट किये जानेकी बात लिखकर मेरी सम्मति पूछी, इसके लिये धन्यवाद। सच बात तो यह है कि इस प्रकारकी चीज वस्तुतः प्रेम है ही नहीं; यह तो मोहका आकर्षण है, जो हमारे आजकलके कालेजोंकी शिक्षा और संसर्गका कटु फल है। यह आर्यनीति नहीं है, एक प्रकारका यथेच्छाचार है, जो सर्वथा त्याज्य है। विवाहका सर्वोत्तम निर्णय माता-पिताके द्वारा ही होता है और यदि ये दोनों युवक-युवती धर्म तथा सदाचारकी रक्षा करना चाहें और यथार्थ प्रेमका भी आदर करें तो उन्हें अपने माता-पिताके इच्छानुसार विवाहका आग्रह छोड़ देना चाहिये और अपने पवित्र प्रेमको—भाई-बहनके पवित्र प्रेमकी भाँति आजीवन निबाहना चाहिये। इसीमें सब प्रकारसे मङ्गल और कल्याण है।

पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनमें परस्पर अभीतक केवल मन-वाणीका ही व्यवहार है या शारीरिक दोष भी आ चुका है; क्योंकि आज-कल ऐसी घटनाएँ बहुत होती हैं और हमको दूसरे कई युवक-युवतियोंके ऐसे पत्र भी मिले हैं, जिनमें स्पष्टरूपसे इस दोषको स्वीकार करके आगेके लिये राय माँगी गयी है। यदि यहाँ ऐसी बात हो चुकी हो अथवा वे दोनों किसी प्रकार भी अपना मत बदलनेको राजी न हों तो वैसी अवस्थामें कन्याके अभिभावक स्वयं कन्या या अन्य कोई सज्जन, जिनका उनपर प्रभाव पड़ता हो, उन्हें समझाकर इस धर्मसंकटकी स्थितिमें उनकी अनुमति प्राप्त कर लें। यदि अनुमति न मिले और मत बदलनेयोग्य स्थिति भी सर्वथा न हो तो वे घरवालोंसे सम्बन्ध तोड़कर अपना विवाह इच्छानुसार कर लें। बालिग लड़कीको कानूनन कोई रोक नहीं सकता। अवश्य ही ऐसी क्रिया संस्कृति और

धर्म तथा सदाचारकी दृष्टिसे उचित तो नहीं है, यह मेरा स्पष्ट मत है।

कन्याके अभिभावकोंसे भी मेरा नम्र निवेदन है कि वे परिस्थितिको भलीभाँति समझ लें। यदि कन्यामें कोई दोष घट चुका हो या कन्या किसी प्रकारसे भी अपना मत बदलनेको तैयार न हो तो उसे इच्छानुसार करनेके लिये स्वतन्त्रता दे देनी चाहिये। इस उम्रके युवक बच्चे तो हैं नहीं, जो अभिभावकोंकी डाँटसे मान जायँगे। घर तथा इज्जतका उन्हें विचार होता तो वे ऐसी बात उठाते ही नहीं। ऐसे प्रसङ्गोंमें यह निश्चय तो पहले ही कर लिया जाया करता है कि 'चाहे कुछ भी हो, हम अपनी बातपर डटे ही रहेंगे। सारे बन्धनोंको तोड़कर ही तो प्रेमको निभाना है (यद्यपि वस्तुतः यह प्रेम नहीं है, है वासना ही)।' अतएव मान-प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे भी आप उन्हें नहीं रोक सकते। असवर्ण-विवाहकी अशास्त्रीयताका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि ऐसे युवक-युवतियाँ इन शास्त्रोंको भी प्रमाण नहीं मानते। ऐसी अवस्थामें कन्याके स्नेहवश अथवा उसका जीवन सुखी बनानेके लिये ही अपने मन तथा मतके एवं कुटुम्बकी रीति-नीतिके सर्वथा विरुद्ध होनेपर भी उसे विवाहकी अनुमति दे देना ही उचित प्रतीत होता है। इसे आपद्धर्म समझना चाहिये। इसके विपरीत करनेसे वे मानेंगे तो नहीं ही, किसी प्रकारकी दूसरी बड़ी बुराई भी उत्पन्न हो सकती है।

सच्ची बात तो यह है कि जवान लड़कियोंको कालेजोंमें पढ़ाना तथा लड़कोंसे अबाध मिलने-जुलने देना ही इस प्रकारकी बुराइयोंकी जड़ है। माता-पिता पीछे पछताते हैं (और ऐसे युवक-युवतियोंको भी मनमानी करनेपर भविष्यमें बहुत पछताना पड़ता है—इसके प्रमाण मेरे पास हैं); पर उच्च शिक्षाके नामपर लड़कियोंके जीवनका सर्वनाश करने और उन्हें विषय-वासनाकी जलती भट्ठीमें झोंक देनेसे बाज नहीं आते, यही मोह है। और फल तो बीजके अनुसार ही होगा।

★

चोरी-डकैतीसे प्राप्त धनकी पूजा चोरी-डकैतीकी ही पूजा है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण।

आपका कृपापत्र मिला। धन्यवाद ! आपके प्रश्नोंका उत्तर निम्नलिखित है—

समाजमें अनाचार, चोरी, छल, विश्वासघात आदि बढ़नेका प्रधान कारण है—विषयसुखमें विश्वास तथा अनाचार, चोरी, छल एवं विश्वासघातसे रुपये पैदा करनेवालोंका समाजमें सम्मान-सत्कार और प्रतिष्ठा। चोरी-डकैतीसे प्राप्त धनकी और ऐसे धनिकोंकी पूजा वस्तुतः चोरी-डकैतीकी ही पूजा है। समाजके लोग अच्छी तरह जानते हैं, अमुक व्यक्ति इस-इस प्रकारसे पाप करके पैसे कमाता है, फिर भी धनवान् बन जानेपर समाजमें सर्वत्र उसकी पूछ-प्रतिष्ठा, सम्मान-सत्कार होता है—यहाँतक कि बड़े-बड़े विद्वान्, नेता, उच्च अधिकारी, धार्मिक पुरुष, साधु-महात्मा—सभी बड़ी-बड़ी सभाओंमें उसका सम्मान करते हैं। तब सभीकी इच्छा होती है कि हम भी ऐसे ही पैसे कमाकर इस प्रतिष्ठाको प्राप्त करें। सबके मनसे पापकी भावना मिट जाती है। रह जाती है—केवल किसी प्रकार भी (अन्याय, असत्य, परस्वापहरण, चोरी, घूस, हिंसा आदि उपायोंसे) पैसा पैदा करनेकी अदम्य लालसा। इसी कारण इतने पाप होते हैं। खाने-पीनेके पदार्थोंमें तथा दवाओंमें भी नकली चीजें मिलायी जाती हैं, नकलीको असली बनाकर बेचा जाता है, फिर उनका सेवन करनेवाले भले ही बीमार हो जायँ या तुरंत ही मर जायँ। यह राक्षसीपन इसीलिये आ गया

सकाम भक्ति और सकाम कर्म

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। मैंने पहले लिखा था, तदनुसार, सत्य तो यही है कि मनुष्य भ्रमवश जबतक विषयोंमें सुख मानता है, जबतक विषय-सुखकी खोजमें लगा है, तबतक उसे न तो शान्ति मिल सकती है और न वह यही कह सकता है कि मुझसे पाप नहीं बन सकते। एक मनुष्य धनकी प्राप्तिके लिये भगवान् श्रीशंकरजीकी उपासना-भक्ति करता है; पर जब कुछ समयतक उपासना करनेपर उसका कोई अनुकूल फल उसे नहीं मिलता, तब वह शंकरजीकी उस उपासनासे ऊबकर दूसरे किसी देवताकी उपासना करना चाहता है। अनुकूल फल न मिलनेपर वह इसी प्रकार बार-बार उपासना बदला करता है। कोई कह देता है कि तुम अबकी बार भगवान् श्रीलक्ष्मीनारायणकी उपासना करो; वह करता है, पर उसका मन तो सदा धनके अनुसंधानमें लगा है। वह भगवान् श्रीलक्ष्मीनारायणकी या अन्य किसी देवताकी उपासना तो उस धनकी प्राप्तिके लिये करता है। अतएव धन-कामनामें लगा हुआ भगवान्‌की उपासना कैसे करेगा। तुलसी-माला चढ़ाते, आरती करते या दण्डवत्-प्रणाम करते—जब देखो तभी उसके मनमें धनका चिन्तन होता रहेगा; क्योंकि वही उसका साध्य या उपास्य है। भगवान् और भगवान्‌की पूजा तो गौण वस्तु है, उपायस्वरूप है और यह आवश्यक नहीं कि किसी कार्यकी सिद्धिके लिये मनुष्य फल मिलनेमें विलम्ब होनेपर भी किसी एक ही उपायसे चिपटा रहे। वह तो जिस उपायसे शीघ्र-से-शीघ्र अपना कार्य सफल हो, उसी उपायसे काम लेगा।

एकसे न हुआ दूसरा सही, दूसरेसे भी सिद्धि न हुई तो तीसरा, चौथा और इसी प्रकार असंख्य। फिर यह भी कोई आवश्यक बात नहीं है कि उपाय एक ही प्रकारका हो; उपासना-आराधनासे न काम हो तो दूसरा उपाय सोचा जाय। कामनाके वशमें होकर मनुष्य यहाँतक नीचे उतर आता है कि चोरी या झूठसे धन आता दीखता है तो चोरी-झूठको भी उपाय बना लेता है। उसे मतलब है धनसे, फिर चाहे वह उपासना-भक्तिसे आये, किसी व्यापार-व्यवसायसे आये या चोरी-असत्यसे आये। इसीसे भगवान्ने गीतामें कामनाको ही पापमें एकमात्र हेतु बतलाया है। यह कामना ही क्रोध बन जाती है। यही जीवका परम शत्रु है। अतएव जबतक विषयमें सुखकी सम्भावना दीखती है और जबतक विषयका अनुसंधान एवं विषय-कामना है, तबतक पापसे मनुष्यका बच सकना अत्यन्त ही कठिन है। विषय-कामना भी रहे और पाप न हो, यह सम्भव नहीं है।

आपका यह लिखना सत्य है कि कामनासे भी भगवान्की भक्ति करना बहुत श्रेष्ठ है। पर विषय-कामना मनुष्यको भक्तिनिष्ठ होने देती नहीं। सकाम भक्तिमें भी अनन्यताकी—एकमात्र प्रभुसे ही वस्तु-प्राप्तिकी चाह होना आवश्यक है। जैसे कोई स्त्री गहने-कपड़े तो चाहती है, पर चाहती है एकमात्र पतिसे ही। पतिके अतिरिक्त दूसरे पुरुषको या दूसरे किसी उपायको वह जानती ही नहीं। यद्यपि केवल पति-सुखके लिये ही बिना किसी अन्य कामनाके पतिकी सेवा करनेवालीसे उसका स्तर नीचा है, फिर भी जैसे वह है तो पतिव्रता ही, उसी प्रकार अन्याश्रय और अन्योपायसे सर्वथा रहित होकर जो ध्रुवकी भाँति केवल भगवान्को ही जानता है और उन्हींसे अभीष्ट सिद्धि चाहता है, वह है भगवान्का भक्त ही और उसकी समस्त कामनाओंका नाश करके

भगवान् उसे अपनी परमकृपाका दान करते हैं। इसीलिये गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं
जियँ जाँचिअ जानकिजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ,
जो जारति जोर जहानहि रे॥

'जगत्में किसीसे भी कुछ माँगना-जाँचना नहीं चाहिये; परंतु यदि माँगना ही हो तो मन-ही-मन श्रीजानकी-जीवन भगवान् राघवेन्द्रसे माँगना चाहिये, जिनसे माँगनेपर वह याचकता (कामना) ही जलकर भस्म हो जाती है, जो सारे जगत्को जबरदस्ती जला रही है।'

परंतु ऐसी अनन्य सकामता सुलभ नहीं है, इसमें बहुत बड़ी श्रद्धा और महान् विश्वासकी आवश्यकता है। विषय-कामनासे चित्त इतना मलिन हुआ रहता है, उसमें अश्रद्धा और अविश्वासका इतना विष भरा रहता है कि विषय-प्राप्तिमें जरा-सी देर या प्रतिकूलता दीखते ही वह क्षुब्ध हो उठता है और सारी भक्तिको भूलकर बड़े-से-बड़े पापको उपायरूपमें स्वीकार करनेके लिये प्रस्तुत हो जाता है। सकामतामें यह दोष प्रायः आ जाता है।

यदि इस दोषसे मनुष्य बचा रहे तो सकाम भक्ति बहुत लाभदायक और अन्तमें भगवान्को प्राप्त करानेवाली सिद्ध होती है। भगवान्ने गीतामें सकाम भक्तोंको भी सुकृती और उदार कहा है और अन्तमें उनको अपनी प्राप्ति बतलायी है—'**मद्भक्ता यान्ति मामपि॥**' (गीता ७। २३) अतएव अनन्य निष्ठापूर्वक भगवान्की सकाम भक्ति भी निस्संदेह अन्तमें भगवत्प्राप्तिरूप परमकल्याण प्राप्त करानेवाली होती है।

सात्त्विक देवताओंकी सकाम आराधना भी इस दृष्टिसे लाभदायक है। मनुष्य जैसा कार्य करता है, जिस प्रकारके कार्योंमें उसका मन लगा रहता है, उसी प्रकारका उसका स्वभाव बनता है। एक मनुष्य धनके लिये चोरी-ठगी करता है, दूसरा मनुष्य धनके लिये धनी मनुष्योंकी सेवा करता है, तीसरा व्यापार करता है, चौथा सात्त्विक आराधना आदि शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान करता है। कर्मका फल तो कर्मके अनुसार प्राप्त होता ही है; परंतु वह मनुष्य लगातार बहुत दिनोंतक श्रद्धा-सत्कारपूर्वक जिस कार्यमें लगा रहता है, वैसा ही उसका स्वभाव बन जाता है। सात्त्विक आराधनादि कर्मोंसे सात्त्विक स्वभाव बनता है, अन्तःकरणकी क्रमशः शुद्धि होती है और अन्तमें जीवन सत्त्वमुखी बनकर अन्तःकरणको भगवान्‌की ओर प्रवृत्त कर देता है। अतः सात्त्विक सकाम अनुष्ठान भी परम्परासे क्रमशः लाभ पहुँचाते हुए भगवान्‌की ओर ले जाते हैं; इसलिये ये न तो पाप हैं और न इनका निषेध ही है। अवश्य ही, विशुद्ध निष्काम भक्ति या भगवत्प्रेमकी तुलनामें सकाम भक्तोंका स्तर बहुत नीचा है और इनका लक्ष्य भगवान् न होकर भोग होनेके कारण इनके मार्गभ्रष्ट होकर पापपङ्कमें फँस जानेका भय भी है ही। शेष भगवत्कृपा।

——★——

भगवत्प्रेम और अनुकूलताकी खोज

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आप अपनेको भगवान्‌का प्रेमी भी मानते हैं और सांसारिक सुविधाओं तथा अनुकूलताओंके लिये इतने अधिक चिन्तित भी हैं, यह आश्चर्यकी बात है। संसारके दुःखोंको तो वह बुद्धिमान् मनुष्य भी धीरजके साथ सह लेता है, जो उन्हें अपने ही किये हुए कर्मोंका अनिवार्य फल मानता है। वह भी समझता है कि प्रारब्धके अनुसार जो फलभोग प्राप्त होता है, उससे कर्मका ऋण ही उतरता है; उसमें चिन्ताकी कोई बात नहीं है। उससे आगे बढ़ा हुआ वह भगवान्‌का विश्वासी पुरुष है, जो प्रत्येक फलको भगवान्‌के मङ्गलमय विधानके द्वारा निर्मित मानता है और विपरीत प्रतीत होनेपर भी विश्वासके बलपर उसका मङ्गलमय परिणाम मानकर प्रसन्न होता है। उससे भी आगे बढ़ा हुआ वह प्रेमी है, जो किसी घटनाको प्रतिकूल तो समझता है, पर यह मानकर प्रसन्न होता है कि 'इससे मुझे तो दुःख होगा, पर मेरे प्रियतम भगवान्‌को सुख होगा। ऐसी बात न होती तो भगवान् इस प्रकार करते ही क्यों? भगवान् जिस बातमें सुख समझें, वही मेरे लिये सुख है; इसलिये मैं सुखी हूँ।' इससे भी आगे बढ़ा हुआ वह सच्चा प्रेमी है, जिसको दुःख तो होता ही नहीं, वरं जो प्रत्येक फलमें भगवान्‌का स्पर्श पाकर सुखी ही होता रहता है। प्रियतम भगवान् जो कुछ करते हैं, उसमें उसे प्रतिकूलताकी कल्पना ही नहीं होती। वह पद-पदपर सुखका ही अनुभव करता है। भगवान् जो कुछ करते हैं, उसकी अवहेलना करके किसी भी सांसारिक सुविधा और अनुकूलताकी ओर उसका मन कभी

जाता ही नहीं। ऐसा प्रेमी कभी दुःखका अनुभव नहीं करता। आप अपने लिये कहते हैं कि 'मैं भगवान्‌के प्रेमके अतिरिक्त और कुछ भी न जानता हूँ और न चाहता हूँ।' फिर तो सांसारिक सुविधा और अनुकूलताको जाननेका भी प्रश्न आपके लिये नहीं उठना चाहिये।

अतएव मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप प्रेमके स्वरूपको समझिये और सदा आनन्दमग्न रहिये। जहाँ प्रेम होगा, वहाँ आनन्द ही रहेगा। जितनी-जितनी प्रेमकी कमी होगी, प्रेमके स्थानपर कोई अन्य वस्तु होगी, उतना ही आनन्दका अभाव होगा—यह सिद्धान्त है। शेष भगवत्कृपा।

—★—

मोहका स्वरूप

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला था। आपने अपनी पत्नी, घर, व्यापार-उपार्जन, घरमें जेठानी-देवरानी, सास-बहू, छोटे-बड़े भाई, धन, महँगाई आदिका वर्णन करके सबको प्रतिकूल बताया और अन्तमें लिखा कि 'संसारसे हट गया हो मोह जिसका, उद्देश्य हो इसी शरीरद्वारा ईश्वर-प्राप्ति—मोक्ष·····, उस मनुष्यका क्या कर्तव्य है ?' इसके उत्तरमें यही निवेदन है कि आपने जिन सारी प्रतिकूलताओंका वर्णन किया है, वे ही तो संसारका स्वरूप हैं। उससे मोह हट जाना ही उस मोहसे छूटकर इसी शरीरद्वारा ईश्वरको प्राप्त करनेका उपाय है। आप लिखते हैं—'मोह हट गया।' मोह हट गया तो फिर इतनी प्रतिकूलताके दर्शन कैसे होते हैं ? संसारको सत्य मानकर उसमें अनुकूलताकी खोज करना तो मोहका ही कार्य है—वस्तुतः यही मोह है। मेरी समझसे आपका मोह हटा नहीं है, प्रतिकूलतासे डरकर आप उससे पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं। अतः यह निश्चय मानिये कि जबतक आप संसारको इसी रूपमें सत्य मानेंगे और भोगोंमें सुख है—यह समझते रहेंगे, तबतक प्रतिकूलतासे पिण्ड छूटेगा ही नहीं। मोहभङ्ग यथार्थ होना चाहिये। यह मोह ही सारी प्रतिकूलताओंका मूल है, इसीसे सारी आधि-व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं और जीवको दुःख भोगनेके लिये बाध्य होना पड़ता है—

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥

(मानस ७।१२१।१५)

इस मोहका नाश होता है श्रीभगवान्की रहस्यमयी लीला-

कथाओंको सुनने-समझनेसे और भगवान्‌के सच्चे भावोंकी कथा प्राप्त होती है—संतोंकी अनुभवयुक्त वाणीसे। अतएव जितना और जैसे हो सके, संतोंके वचनोंका मनन कीजिये—सत्सङ्ग कीजिये। तब असली मोहका नाश होगा और फिर कर्तव्यका प्रश्न रह ही नहीं जायगा। मोह मिटा कि भगवान्‌में प्रेम हुआ। प्रेम होनेपर अपने-आप ही जीवन उसी मार्गमें लग जायगा और सब ओर अनुकूलता और सुखका दर्शन होने लगेगा—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(मानस ७। ६१)

शेष भगवत्कृपा।

—★—

पत्नीका सुधार

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने पत्नीके सम्बन्धमें जो बातें लिखीं, वे सचमुच दुःखदायिनी हैं और उनको लेकर आपके मनमें क्षोभ होना स्वाभाविक है; परंतु भूल होना मनुष्यके जीवनमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। मन-इन्द्रियाँ वशमें हैं नहीं, कुसङ्ग मिल जाता है, तो आदमी गिर जाता है। पुरुषोंसे भी तो भूलें होती हैं। अतएव आप न तो अपनी हत्याकी बात सोचें, न किसी दूसरेकी ही। इसी प्रकार घर छोड़ने, संन्यासी हो जानेकी कल्पना भी न करें। आप अपनी पत्नीको अपने पास रखें, उसके अपराधको क्षमा करें। भूलका सुधार दण्डसे उतना अच्छा नहीं होता, जितना प्रेमसे होता है। आप उसपर दया करें, प्रेम करें, उसके साथ उत्तम-से-उत्तम व्यवहार करें और उसके जीवनको पवित्र बना लें। भगवान् आपका और उसका मङ्गल करेंगे। इस विषयकी चर्चा छोड़ दें। पापका सच्चा प्रायश्चित्त है—पश्चात्ताप और भविष्यमें वैसा पाप न करनेका निश्चय। आप प्रेमपूर्ण व्यवहार करके उसको समझायेंगे तो पश्चात्ताप भी होगा और भविष्यमें पाप भी नहीं बनेगा। ऐसा होना बड़ी बात नहीं है। इसे असम्भव न समझें। घरमें रहें, सुखी रहें और सबको सुखी बनायें। शेष भगवत्कृपा।

———★———

सत्सङ्गकी इच्छा

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपकी महापुरुषोंके समीप रहने और साधन-भजन करनेकी इच्छा तो बड़ी ही श्रेष्ठ इच्छा है। मानव-जीवनका यही तो सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है। परंतु घरमें आप पिताजीके अकेले पुत्र हैं। माता, विधवा चाची, पत्नी, कन्या हैं। उनकी सेवा और पालन करना आपका कर्तव्य है। घरमें आसक्ति तथा ममताका त्याग करना चाहिये; घरका और कर्तव्यका नहीं। घरको भगवान्‌का समझकर, भगवान्‌की सेवाके भावसे, भगवान्‌का स्मरण करते हुए कर्तव्य-कर्मका पालन कीजिये। घर छोड़नेकी उमंग तो होती है; पर घर जितना सुरक्षित है, उतना घर छोड़कर भटकना नहीं है। आजकल तो बाहर बड़ी दुर्दशा है और पतनके हजारों साधन हैं। दुर्गति मानो मुँह बाये खड़ी है। अतएव घर छोड़नेकी बात सोचना सर्वथा अनुचित है।

भगवान्‌का स्मरण करते हुए ही सारे कार्य कीजिये। अर्जुनको भगवान्‌ने आज्ञा दी—'तुम निरन्तर मेरा स्मरण करते हुए ही युद्ध करो। मन-बुद्धि मुझे सौंप दो। तब निश्चय मेरी ही प्राप्ति होगी।'

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८।७)

शेष भगवत्कृपा।

कुसङ्गका त्याग तुरंत कीजिये

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने जो बातें लिखी हैं, वे यदि सत्य हैं तो बड़ी भयानक हैं; आजकल छात्र-छात्रा कितना अनर्थ कर रहे हैं; छात्रोंकी यात्राओंमें क्या होता है—इसका पापपूर्ण चित्र आपने खींचा है। आप जो कुछ कर रहे हैं, वह आपके लिये बड़ा ही अशुभ है। उसका परिणाम बहुत ही बुरा होगा। आप जिन दुराचारी, व्यभिचारी छात्रोंको अपना अन्तरङ्ग मित्र मानते हैं और जिन छात्राओंको अपनी सङ्गिनी मानकर जीवनको कलङ्कित करते हैं, वे आपके शत्रु हैं और उनके साथ इस प्रकार पापके गढ़ेमें गिरकर उनके साथ आप भी शत्रुताका ही व्यवहार कर रहे हैं। आप सावधान हो जाइये। इस कुसङ्गको तुरन्त छोड़ दीजिये। आपके भाई आपसे बहुत ठीक कहते हैं। आप कालेजको छोड़ दीजिये। दूकानपर भाईके पास बैठिये। ऐसे पापके अड्डेमें रहनेसे तो हानि-ही-हानि है। जब आप 'कल्याण' को पढ़ते हैं, तब आपको अपने कुकृत्योंपर पश्चात्ताप होता है और आप उनसे छूटनेकी इच्छा करते हैं, पर साथियोंके मिलनेपर फिर वैसे ही कुकर्मोंमें लग जाते हैं—यह आपकी दुर्बलता है। पश्चात्ताप होना तो बहुत शुभ है; परंतु जबतक कुकर्म बनते हैं, तबतक असली पश्चात्ताप कहाँ है। वास्तविक पश्चात्ताप वही है, जो पुनः वैसा कुकर्म न करनेका दृढ़ निश्चय ही नहीं करा दे वरं उसे असम्भव कर दे। भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये, मनको दृढ़ बनाइये, बार-बार सत्साहित्यका अध्ययन कीजिये। कुकर्मी साथियोंका परित्याग कीजिये। छात्राओंकी ओर तो देखना भी बड़ा पाप मानिये। उनसे कभी बोलनेकी भी इच्छा मत कीजिये। सिनेमा छोड़िये और भगवान्‌के कृपा-बलपर दृढ़प्रतिज्ञ होकर पापसे छूट जाइये। यह असम्भव नहीं है। भगवत्कृपा और उसके बलपर आपके सच्चे प्रयत्नसे यह पाप छूट जायेगा। कुसङ्ग किसी प्रकारका हो, उसका त्याग तुरंत आवश्यक है। शेष भगवत्कृपा।

———★———

पतिका अत्याचार

मान्या बहन! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपकी दुःख-कहानी पढ़कर बड़ा खेद हुआ। वस्तुतः वह पुरुष बड़ा ही भाग्यहीन और पापजीवन है, जो अपनी निर्दोष पत्नीपर अत्याचार करता है। गाली देना और मारना तो बहुत बड़े अपराध हैं। अपराध तो असत्कार करना भी है। एक धर्मप्राण राजाको केवल इसी पापके कारण नरकका हाहाकार सुनना पड़ा था। उन्होंने अपने जीवनमें एक बार पत्नीका तिरस्कार किया था। जैसे पतिको प्रसन्न करना पत्नीका कर्तव्य है, वैसे ही पत्नीको निर्दोष सुख पहुँचाना पतिका धर्म है। पति इस धर्मसे च्युत होता है तो वह घोर नरकका भागी होता है। जिस घरमें दुःखके भारसे पीड़ित होकर स्त्री रोया करती है, वह घर नष्ट हो जाता है—यह मनु महाराजकी घोषणा है। अतएव मुझे तो आपके पतिदेवसे यह कहना है कि वे अपने-आपको सँभालें। केवल ग्रन्थोंके अध्ययनसे कुछ नहीं होता, वास्तविक लाभ तो आचरणसे होता है। वे यदि इसी प्रकार क्रोधके वश होकर आपके प्रति अत्याचार करते रहेंगे तो उसका परिणाम उनके लिये लोक-परलोकमें बड़ा ही दुःखदायी होगा। साथ ही आपसे भी निवेदन है कि आप अपने स्वामीको उनकी होनेवाली इस दुर्दशासे बचानेका शुभ प्रयत्न करें। आप उनके लिये प्रेमयुक्त शुभ भावना करें। उनका स्वभाव बदलकर सात्त्विक हो जाय, इसके लिये विश्वासपूर्वक भगवान्‌से प्रार्थना करें। अपनी तपस्यासे भगवान्‌को संतुष्ट करके स्वामीके अपराधको उनसे क्षमा करायें। भगवन्नाम-स्मरण और भगवत्प्रार्थना ही आपके सुख-शान्तिके लिये अमोघ उपाय हैं। शेष भगवत्कृपा।

——★——

धोखेसे बचिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आप साधुके वेषमें हैं, भगवान्‌की चर्चा करते हैं, इसलिये श्रद्धालु जनता आपमें श्रद्धा-भक्ति करे—उसके लिये तो यह उचित ही है। साधु-महात्माओंका सम्मान-सत्कार, उनकी सेवा-पूजा अत्यन्त लाभदायक हैं। परंतु आपको दूसरी दृष्टिसे विचार करना चाहिये। आपको जो सैकड़ों-हजारों नर-नारियोंके द्वारा मान-सम्मान, सेवा-पूजा, श्रद्धा-भक्ति प्राप्त हो रही है—आप वस्तुतः उसके अधिकारी हैं या नहीं ? जिस महापुरुषत्व या महात्मापनकी भावनासे लोग आपका आदर कर रहे हैं, वह महापुरुषत्व या महात्मापन यथार्थमें आपको प्राप्त है या नहीं ? कहीं आप उन सरलहृदय श्रद्धालु नर-नारियोंकी सरलता, साधुता और अकृत्रिम श्रद्धाका अनुचित लाभ तो नहीं उठा रहे हैं ? किसीके भी द्वारा अपनी सेवा-पूजा, श्रद्धा-भक्ति करानेका अधिकार तो महापुरुषको भी नहीं समझना चाहिये। सेवा-पूजा, श्रद्धा-भक्ति, मान-सम्मान करनेकी चीज है, करानेकी नहीं। फिर, जो महात्माका बाना धारण करके अपनी पूजा कराता है, वह तो अपने पतनका पथ ही प्रशस्त करता है।

यदि मनुष्य ऐसी स्थितिमें गहराईसे विचार करे, अपने जीवनके अबतकके कर्मोंका स्मरण करके देखे तो अधिकांशमें यह पाया जाता है कि जिन श्रद्धाके धनी सरल-प्राण नर-नारियोंसे वह सेवा-पूजा करवाता है, जिनसे अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होता है, वे नर-नारी उससे कहीं अच्छे हैं, उनके जीवनमें सचमुच उच्चता और यथार्थता है; वहाँ न कृत्रिमता है न अपनेको बड़ा बतानेकी दूषित वृत्ति।

अपने मनमें घुसकर देखना चाहिये कि धन-मान, सुख-आराम, भोग-विलास, यश-कीर्तिकी कितनी और कैसी प्रबल इच्छा मनमें है, इनके लिये कैसे मन ललचाता रहता है और इनके मिलनेपर कितना हर्ष और न मिलनेपर या नष्ट हो जानेपर कितना विषाद होता है। ऐसी स्थितिमें, दूसरे यदि कोई आपको निर्विकार, समदृष्टि, निष्काम महापुरुष बतलाते हैं और आप उनकी प्रशंसाको स्वीकार कर उसका किसी प्रकार भी अनुमोदन करते हैं, तो बताइये, यह उनको तथा अपनेको भी धोखा देना है या नहीं ? इस धोखेसे बचिये।

आपके पत्रकी अन्यान्य बातोंसे मेरे मनपर कुछ ऐसी ही छाप पड़ी है। अतएव निवेदन यह है कि आप अपनेको देखिये, अच्छी तरहसे देखिये। यदि सचमुच आपके बाहरी (नकली) और भीतरी (असली) रूपमें अन्तर हो और आपने झूठ-मूठ ही नकली रूपको असली बताये जानेपर उसे स्वीकार कर लिया हो तो इस धोखेसे शीघ्र बचिये। अपने असली (भीतरी) रूपको ही अपना रूप मानकर उसके सुधारमें लग जाइये। लोगोंसे स्पष्ट कह दीजिये कि 'मैं ऐसा हूँ।' इसपर भी वे श्रद्धासे न मानें तो ऐसे जनसमूहको छोड़कर जहाँ आपको कोई न जानता हो, वहाँ चले जाइये और उपदेशादि देना छोड़कर नकली महात्मापनका चोगा उतार फेंकिये। महात्मापनका चोगा उतर जानेपर तो अभी आप जहाँ रहते हैं, वहाँ भी कुछ दिनोंमें मान-सम्मान घट जायगा। तथापि अलग जाकर अपने सुधारके कार्यमें शीघ्र लग जाना और भी उत्तम है। भगवान्का भजन कीजिये। आर्त होकर उनको पुकारिये। उनके सामने अपने जीवनको बिना किसी छिपाव-दुरावके खोलकर रख दीजिये और बिना किसी शर्तके उनके चरणोंपर अपनेको डाल दीजिये। वे परम दयालु आपको अपनाकर वास्तविक महात्मा बना लेंगे। शेष भगवत्कृपा।

———★———

भगवान्‌की सब लीलाओंका अनुकरण नहीं हो सकता

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। भगवान्‌की अवतार-लीलाओंके सम्बन्धमें कुछ भी संदेह न करके यह मानना चाहिये कि 'वे भगवान् हैं, सर्वसमर्थ हैं, सर्वथा स्वतन्त्र हैं, चाहे जैसे, चाहे जो, चाहे जब कर सकते हैं, उनके लिये सभी कुछ ठीक है।' पर हमें अनुकरण उन्हीं बातोंका करना चाहिये, जिनके लिये उनका तथा उनकी ही वाणीरूप शास्त्रोंका आदेश हो। और सच बात तो यह है कि भगवान्‌की सारी लीलाओंका अनुकरण किया भी नहीं जा सकता।

भगवान्‌की लीलाएँ प्रधानतया तीन प्रकारकी होती हैं—

१. लोकसंग्रह या लोकशिक्षाके लिये की जानेवाली आदर्श लीला।

२. अद्भुत, असम्भव जान पड़नेवाली ऐश्वर्यमयी लीला।

३. अन्तरङ्ग प्रेमी भक्तोंके साथ की जानेवाली प्रेममयी लीला।

(१) माता-पिताकी भक्ति, गुरुकी भक्ति, ब्राह्मणभक्ति, सदाचार, देवपूजन, दीनरक्षण, इन्द्रियनिग्रह, ध्यान-पूजन, सत्यव्यवहार, निष्कामभाव, अनासक्ति, समत्व, नित्य आनन्दमें स्थिति आदि अनुकरण करनेयोग्य आदर्श लीलाएँ हैं। इनका अनुकरण अपने-अपने अधिकार एवं योग्यताके अनुसार किया जा सकता है और करना ही चाहिये। भगवान्‌का आदेश भी है यों करनेके लिये।

(२) अग्नि पीना, वरुणलोकमें जाना, अँगुलीपर सात दिनोंतक पर्वत उठाये रखना, कई प्रकारसे अपने विराट्‌रूपके दर्शन कराना, अघासुर, शिशुपाल आदिके मरनेपर उनकी आत्मज्योतिको अपनेमें विलीन कर लेना, हजारों-लाखों मनुष्योंके साथ विभिन्न भावोंसे एक ही साथ मिलना, हजारों रानियोंके महलोंमें एक साथ रहना, दो जगह एक ही साथ एक ही समय आतिथ्य स्वीकार करना, सूर्यको ढक देना,

असंख्य गोवत्स, गोपबालक तथा उनकी प्रत्येक वस्तुके रूपमें स्वयं बन जाना, ब्रह्माजीको सबमें भगवत्स्वरूपके तथा महान् ऐश्वर्यके दर्शन कराना, अक्रूरको जलमें अपने दर्शन कराना, मारकर असुरोंका उद्धार करना आदि उनकी ऐश्वर्यमयी लीलाएँ हैं। इनका अनुकरण साधारण मनुष्यके द्वारा सर्वथा असम्भव है।

(३) गोपियोंके घरोंसे माखन चुराकर खाना, चीरहरण, रासलीला और निकुञ्जलीला आदि अन्तरङ्ग मधुर प्रेमलीलाएँ हैं, जो भगवान् अपने आत्मस्वरूप पार्षदों तथा प्रेमियोंके साथ अनर्गल— अमर्याद-रूपमें श्रुति-सेतुका भङ्ग करके अपने-आपमें ही किया करते हैं—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।

(श्रीमद्भागवत १०।३३।१७)

'रमानाथ भगवान्ने व्रजसुन्दरियोंके साथ वैसे ही खेल किये, जैसे बालक अपनी छायाके साथ करता है।'

इन मधुर लीलाओंका अनुकरण कदापि नहीं करना चाहिये। जो मूढ़ इनका अनुकरण करने जाता है, वह शास्त्र और धर्मसे पतित होकर घोर नरकका अधिकारी होता है।

वस्तुतः इन तीनों प्रकारकी लीलाओंमें केवल प्रथम प्रकारकी लीला ही अनुकरणके योग्य होती है। शेष दोनों प्रकारकी लीलाएँ तो श्रवण, कीर्तन, मनन और ध्यानके द्वारा भगवान्के प्रति भक्ति तथा प्रेम प्राप्त करनेके लिये हैं। शुद्ध मनसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्की ऐश्वर्य और माधुर्यसे भरी लीलाओंका चिन्तन करना चाहिये और आदर्श लोकशिक्षामयी लीलाओंको अपने जीवनमें उतारना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

———★———

प्रायश्चित्त

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि पापका वास्तविक प्रायश्चित्त है—घोर पश्चात्ताप और पुनः वैसा पाप न करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा। इस प्रकार पश्चात्ताप और पापकी पुनरावृत्ति न करनेकी प्रतिज्ञाके अनन्तर जो पापनाशके लिये भगवान्से प्रार्थना करता है, उसके पापोंका नाश हो सकता है। आपके मित्रने तो घोर पाप किया है। हमारे देशका महान् दुर्भाग्य है, जो नवयुवकोंकी इस प्रकारके पापोंमें प्रवृत्ति हो रही है। उन्हें सच्चे पश्चात्ताप एवं पुनः पाप न करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञाके साथ ही भगवान्से कातर प्रार्थना करनी चाहिये एवं भगवान्के किसी नामका कम-से-कम दस लाख जप करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

—★—

साध्वी धर्मपत्नीके साथ दुर्व्यवहार करना बड़ा अशुभ है

प्रिय बहन ! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने अपने पतिके दुराचार-दुर्व्यवहार तथा अपने दुःख और जीवनके भारस्वरूप होनेकी बात लिखी सो वास्तवमें बड़ी ही कष्टदायक है। पतिदेव अपने दुराचारका दोष आपके मत्थे मढ़ते हैं, यह उनकी जबर्दस्ती है। आपके बार-बार रोकने तथा यथासाध्य उनके अनुकूल रहनेपर भी वे पापमें प्रवृत्त होते हैं तो इसका सारा दोष उन्हींपर है। आपको इस मिथ्या पापके भयसे काँपनेकी आवश्यकता नहीं है। आप चुप रह जाती हैं, यह तो अच्छी बात है ही, पर नम्रतासे समझाना भी बुरा नहीं है। मेरी समझसे तो उनको सुधारनेके अमोघ उपाय हैं—(१) सच्चे मनसे उनकी सेवा करना, (२) भगवान्‌का भजन करना और (३) उनके सुधारके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करना। आपकी तपस्या और प्रार्थनासे ही उनका सुधार सम्भव है। आपको उनकी ओर न देखकर अपने स्वरूपकी ओर देखना चाहिये।

पुरुषोंके सम्बन्धमें क्या कहा जाय। वे साध्वी धर्मपत्नीको दुःख देकर जो पापाचरणमें प्रवृत्त होते हैं, यह उनके भविष्यके लिये बड़ा ही अशुभ लक्षण है। उन्हें सावधान होकर शीघ्र अपना सुधार करना चाहिये; नहीं तो, वे तो नरकोंके भागी होंगे ही, समाजसे सदाचारका नाश हो जायगा। इस बीसवीं सदीके उच्छृङ्खलतापूर्ण युगमें स्त्रियाँ पातिव्रत्यके नामपर कबतक पुरुषोंके अत्याचारको सहन करेंगी। शेष भगवत्कृपा।

★

ईश्वर-विश्वास

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपको ईश्वरपर पूर्ण विश्वास है और ईश्वरपर विश्वास रखते हुए ही आप दैनिक कार्यक्रम बनाते हैं, यह तो बहुत ही उत्तम है। जिनको ईश्वरमें पूर्ण विश्वास है, उनको भला मैं क्या लिखूँ। मेरा तो आपसे यही निवेदन है कि आप इस 'पूर्ण' विश्वासको 'पूर्णतर' बनाइये, जिससे अशान्ति और चिन्ताके लिये अवकाश ही न रहे। अशान्ति और चिन्ता इसीलिये होती है कि हम अपने मनकी कुछ चाहते हैं और सर्वज्ञ प्रभु हमारे हितके लिये उसकी पूर्ति नहीं करते। यदि हम अपनी चाह प्रभुकी मङ्गलमयी चाहमें मिला दें और प्रभुके प्रत्येक मङ्गलविधानमें अपना यथार्थ मङ्गल देखें तो फिर चिन्ता और अशान्ति रहेंगी ही नहीं। अशान्तिनाश और शान्तिकी प्राप्तिका बड़ा सहज उपाय भगवान्‌ने स्वयं बतलाया है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

(गीता ५। २९)

'भगवान्‌को सब प्राणियोंका सुहृद् (अकारण भला करनेवाला) समझते ही शान्ति मिल जाती है।' भगवान् हमारे सुहृद् हैं और सर्वज्ञ होनेके नाते यह भी जानते ही हैं कि हमारा भला किस बातमें है। फिर वे जो कुछ करेंगे, सब सहज ही हमारे भलेके लिये ही करेंगे। बस, ऐसा विश्वास होते ही शान्ति मिल जायगी।

अब रही मनके अनुकूल कार्य होने और अशान्त वातावरणसे बचनेकी चाह। इस सम्बन्धमें मेरा निवेदन यह है कि भगवान्‌में पूर्ण

विश्वास होनेपर प्रतिकूल अशान्त वातावरणका अनुकूल शान्त वातावरणमें परिणत हो जाना भी कोई बड़ी बात नहीं है; (यद्यपि ऐसी चाह है तो अबोधमयी ही और ऐसी चाहसे पूर्ण विश्वासकी भी कमी ही द्योतित होती है—इसीलिये तो हम भगवान्‌के मनकी होनेमें संतुष्ट न होकर अपने मनकी चाहते हैं, तथापि) परम शान्तस्वरूप नित्यानन्दमय प्रभुका विश्वास शान्तिका वातावरण भी कर ही देता है। आप अपने विश्वासमें और भी प्रगाढ़ता लाइये। आपका हृदय पिघल-पिघलकर प्रभुके ध्यानमें लग जाता है, यह तो बहुत ही उत्तम है। पर अपनेको भगवान्‌में पूर्ण विश्वासी मानते हुए भी आपका यह प्रश्न करना कि 'क्या मैं आशा करूँ कि मुझे सफलता मिलेगी ?' कुछ अटपटा-सा लगा। भगवान्‌में विश्वास और जीवनकी सच्ची सफलता—दोनोंका एक ही अर्थ समझना चाहिये।

गीताप्रेससे प्रकाशित छोटी-सी पुस्तिका 'भगवान्‌पर विश्वास' पढ़िये। शेष भगवत्कृपा।

—★—

अतिप्रश्न

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। धन्यवाद। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान्‌को किसने उत्पन्न किया ?—यह अतिप्रश्न है। जो प्रश्न उठानेयोग्य न हो, उसे उठाना 'अतिप्रश्न' करना है। यह प्रश्नकर्ताके लिये हानिकर होता है। भगवान् अजन्मा, अविनाशी, नित्य एवं सनातन हैं। उन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है; उनकी कभी किसीसे उत्पत्ति नहीं होती। जो वस्तु सदा मौजूद रहनेवाली है, उसकी उत्पत्ति किससे हो सकती है। जिससे सबकी उत्पत्ति, पालन और संहाररूप कार्य होते हैं तथा जो किसी दूसरेसे उत्पन्न न होकर सदा विद्यमान रहता है, वही भगवान् है।

(२) सृष्टिरचना भगवान्‌का एक खेल है। अनन्त महासागरके वक्षपर युग-युगसे जो अनन्त लहरें उठती और विलीन होती रहती हैं, उसमें वायुदेवके विभ्रम-विलासके सिवा और क्या कारण हो सकता है। इन उत्ताल तरङ्गोंके उत्थान और लयका क्या उद्देश्य है, कौन कह सकता है। यदि कोई कहे कि 'भगवान्‌की वह लीला किस कामकी, जिसमें असंख्य जीव कष्ट भोगते रहते हैं,' तो इसका उत्तर यह है कि मनुष्य अपने ही काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्गुणोंसे प्रेरित होकर जो शुभाशुभ कर्म करता है, उसीके फलस्वरूप वह सुख-दुःख भोगता है। जो इन दुर्गुणोंसे बचकर राग-द्वेष, दर्प-अहंकार आदिसे दूर रहता है, वह दुःखका भागी नहीं होता। दुःख भी अज्ञानवश ही है, वास्तवमें नहीं। शेष भगवत्कृपा।

———★———

ईश्वर-चर्चा

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद। आपमें और आपके मित्रमें जो सत्सङ्गके तौरपर कुछ वाद-विवाद हुआ है और उसमें आप दोनोंने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनके सम्बन्धमें आप मेरी सम्मति जानना चाहते हैं—यह अच्छी बात है। भ्रम और शङ्का तो भगवान् ही दूर करते हैं। उनकी कृपाके प्रकाशसे जब मिथ्या तर्कका अन्धकार मिट जाता है और ज्ञानका आलोक उदय होता है, तब भ्रम और अज्ञानका तिमिर अपने-आप हट जाता है।

एक बात और ध्यान देनेयोग्य है। जहाँतक प्रत्यक्ष प्रमाणकी गति है, वहींतक मनुष्य साधिकार कोई बात कह सकता है। जहाँ इन्द्रिय, मन, बुद्धिकी भी पहुँच नहीं हो पाती, उस तत्त्वका निर्णय मनुष्य निरे तर्क और युक्तिके बलपर नहीं कर सकता। उसके लिये शास्त्र और अनुभवी संतकी शरणमें जानेकी आवश्यकता होती है। भगवान् भी यही कहते हैं—

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ४। ३४)

जिसने शम-दम आदि साधनोंका अनुष्ठान किया है, सद्गुरुकी सेवा की है, सत्सङ्गका दीर्घकालतक सेवन किया है, शास्त्रोंका अनुशीलन किया है और एकाग्रतापूर्वक भगवान्‌की आराधना की है, वही भगवत्कृपासे यथार्थ तत्त्वका अनुभव करके कह सकता है कि कौन भ्रममें है और कौन नहीं। शेष सब लोग तो स्वयं संदेह और भ्रममें ही रहते हैं। फिर भी इस भ्रम-निवारणके ये ही सब उपाय हैं—

परस्पर समझना-समझाना और संदेह हो तो उसे श्रेष्ठ पुरुषोंसे पूछकर निवृत्त कर लेना; इन्हींसे तत्त्वका बोध हुआ करता है—**'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'**—यह प्रसिद्ध है।

आपके मित्रका यह कहना कि 'ईश्वरकी आज्ञाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता' सर्वथा सत्य है। जैसे विद्युत्-शक्तिके बिना मशीन नहीं चल पाती, उसी प्रकार ईश्वरीय सत्ता एवं प्रेरणाके बिना जगत्का एक अणु भी कार्य-क्षम नहीं हो सकता। हम तभी किसीको देखते हैं, जब आँख काम करती है। नेत्रमें जो देखनेकी शक्ति है, वह किसकी है ? ईश्वरकी ही है; इसीलिये शास्त्र ईश्वरको **'चक्षुषश्चक्षुः'** (नेत्रका भी नेत्र) कहते हैं। अतएव संसारमें यदि एक पत्ता भी हिलता है तो उसके हलन-चलनमें ईश्वरकी शक्ति या प्रेरणा ही काम करती है।

मित्र महोदयकी जो दूसरी बात है, उससे मैं पूर्णतया सहमत नहीं हूँ। अर्थात् वे जो यह कहते हैं कि 'अच्छा-बुरा, पुण्य-पाप—सब ईश्वर ही कराता है, यह आधा ही सत्य है। पुण्य ईश्वर कराता है' यह तो समझमें आनेकी बात है; क्योंकि ईश्वर पुण्यमय है। जो जैसा होता है, उससे वैसी प्रेरणा मिलती है; परंतु ईश्वर बुरा कर्म या पाप भी कराता है, यह किसी भी विचारशीलको मान्य नहीं हो सकता। सूर्यकी किरणें प्रकाश फैलाती हैं—यह तो सबके विश्वासकी बात है; परंतु सूर्यके उदय होनेपर अन्धकार बढ़ जाता है, यह सम्भवतः कोई भी माननेको तैयार नहीं होगा। अग्नि शीतल और चन्द्रमा उष्ण है—यह उन्मत्त-प्रलाप है। जिसका नाम, रूप, लीला, धाम—सब कुछ पुण्यमय है, वह पाप क्यों करायेगा ?

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि 'उसकी इच्छाके बिना पत्ता भी नहीं हिलता तब पाप कैसे हो सकता है ?' इसका उत्तर यह है कि

हलन-चलन आदि चेष्टाएँ ईश्वरीय शक्तिसे होती हैं। पापीके शरीर और इन्द्रियाँ भी ईश्वर-शक्तिसे ही हिलते-चलते या चेष्टा करते हैं तथा पुण्यात्माके शरीर एवं इन्द्रियाँ भी ईश्वर-शक्तिसे ही अपने कार्यमें समर्थ होते हैं। यह चेष्टामात्र ही ईश्वरीय शक्तिसे होती है। एक ही प्रकारकी चेष्टा दो मनुष्य करते हैं; एककी चेष्टा पाप बन जाती है और दूसरेकी पुण्य। पापी और पुण्यात्मा—दोनों अपने नेत्रोंसे देखते हैं; परंतु एककी दृष्टि शुद्ध है, वह सबमें सर्वत्र भगवान्‌का भाव रखकर देखता है और दूसरा रूप, लावण्य, कटाक्ष और हाव-भावपर गंदी दृष्टि रखकर परस्त्रीका सतीत्व लूटना चाहता है। भावशुद्धिके कारण पहलेकी दर्शनरूप चेष्टा पुण्य है और भावकी अशुद्धिके परिणामस्वरूप दूसरेकी वही चेष्टा पाप है। चेष्टामें ईश्वरीय शक्ति काम करती है और उसी चेष्टाको पुण्यमय अथवा पापमय बनानेमें मनुष्यका आन्तरिक भाव कारण बनता है। ईश्वर पुण्यमय हैं, अतः सर्वत्र ईश्वर-दर्शन करनेवाला पुण्यात्मा है और धर्मविरुद्ध 'काम' पापरूप है, अतः उसमें प्रवृत्त होनेवाला पापात्मा है। इसी प्रकार प्रत्येक चेष्टाके सम्बन्धमें हम पाप-पुण्यका निर्णय कर सकते हैं। चेष्टा भगवान् कराते हैं और पाप-पुण्य मनुष्य करता है। भगवान्‌ने अर्जुनके यह पूछनेपर कि 'पाप कौन कराता है?' स्पष्ट उत्तर दिया है कि 'महापापी काम ही पापमें कारण होता है, अतः जिस प्रकार यह ठीक है कि ईश्वरीय शक्ति या प्रेरणाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता, उसी प्रकार यह भी परम सत्य है कि ईश्वर सत्कर्ममें सहायक होता है, पाप-कर्म तो मनुष्य अपनी कामना एवं आसक्तिसे करता है, उसमें ईश्वरका हाथ नहीं है। इसीलिये अच्छे-बुरे कर्मका दण्ड मिलता है। चोरको चोरीकी सजा क्यों मिलती है? इसलिये कि वह पाप करता है। चोर एक जगहका माल उठाकर

दूसरी जगह रखता है; साधु भी यही करता है। परंतु एक चोर है, दूसरा साधु। चोर दूसरेकी वस्तुपर हाथ लगाकर अनधिकार चेष्टा करता है और साधु पुरुष अपनी वस्तु उठाता एवं रखता है। एकको छिपना पड़ता है, दूसरा सबके सामने रहता है। जैसे लोकमें भले-बुरे कर्मका पुरस्कार या दण्ड मिलता है, उसी प्रकार परलोकमें भी समझना चाहिये। इसीलिये नरक और स्वर्गकी बात भी सत्य है। जैसे यहाँ हवालात, जेल और फाँसीघर हैं, उसी प्रकार परलोकमें भी यातनागृह हैं। इस सत्यकी ओरसे आँख नहीं मूँदना चाहिये।

भगवान्‌ने सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि की है। उसमें कोई राजा, रईस, सेठ, साहूकार, उच्च और महान् है तो कोई निर्धन, दीन, हीन, दुःखी, कंगाल, नीच और छोटा है। ऐसी विषमता क्यों? क्या ईश्वर अन्यायी या पक्षपाती है, जो सबको एक-से नहीं बनाता? ईश्वर समदर्शी और न्यायकारी है। वह अपनी ओरसे सबको समान सुविधा देता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि उसने सबके लिये बनाये हैं। विषमता मनुष्यने स्वयं पैदा कर ली है। अपने कर्मके अनुसार कोई सुखी है और कोई दुःखी, कोई नीरोग है तो कोई दीर्घकालतक रोगी रहता है। एक पिताने अपने दो पुत्रोंको पाँच-पाँच रुपये देकर बाजार भेजा और कहा—इन रुपयोंसे तुम अपने मनकी वस्तु खरीद लेना। दोनों गये। एकने जितने पैसे थे, उनके अनुसार वस्तुएँ खरीदीं। दूसरेने बाजारकी बहुमूल्य वस्तुएँ पसंद कीं, किंतु रुपये कम होनेके कारण वह उन्हें खरीद न सका। फिर भी कामना तीव्र होनेसे उसके मनमें उन वस्तुओंके प्रति लोभ जाग्रत् हुआ और लोभवश वह किसी मनचाही वस्तुको चुरानेमें प्रवृत्त हो गया। अन्तमें वह चोरीमें पकड़ा गया और मार-पीटकर जेलमें बंद कर दिया गया। पहला अपने नेक व्यवहारसे

घर और बाहर सर्वत्र आदरका पात्र हुआ। दोनोंकी जो दो गतियाँ हुईं, उनमें उनके अपने ही कर्म कारण बने। पिताने एकको साधु और दूसरेको चोर नहीं बनाया था।

'जीव नामकी कोई चीज नहीं'—यह कहना भी सर्वथा भ्रम है। 'मैं हूँ' इसके समर्थनमें बाहरसे कोई प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं होती। अपनी सत्ताका सबको प्रत्यक्ष अनुभव होता है। संसारमें जड और चेतन—दो ही वस्तुएँ देखी जाती हैं; सर्वव्यापी परमात्मा प्रत्येक शरीरमें जीवरूपसे निवास करता है; जीव ईश्वरका ही अंश है। ईश्वरवादी होकर भी आपके मित्र उन्हींके अंशभूत जीवकी सत्ता—विशेषतः अपनी सत्ताको अस्वीकार करते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(१५।७)

गोस्वामी तुलसीदासजीने भी काकभुशुण्डिजीको गरुड़जीसे यह कहलाया है—'**ईस्वर अंस जीव अबिनासी।**' (मानस ७।११७।१) वेदभगवान्‌का भी यही उपदेश है—'**द्वा सुपर्णा सयुजा॰**' इत्यादि। अर्थात् ईश्वर और जीव दो पक्षी हैं, जो मनुष्य-शरीररूपी वृक्षमें एक साथ रहते हैं।

आपने अपने मित्रके प्रतिवादमें जो कुछ कहा, उसके अन्तर्गत एक वाक्य यह भी है कि 'उपादान कारण ईश्वर है और निमित्त कारण जीव है। आपकी यह उक्ति ठीक नहीं है। साधारणतया पाञ्चभौतिक जड वस्तुओंका उपादान प्रकृति है, परंतु वह भी सर्वरूप परमात्मासे भिन्न नहीं है। अतः एकमात्र परमात्मा ही जगत्‌के अभिन्न-निमित्तोपादान कारण हैं। वे ही उपादान हैं और वे ही निमित्त कारण। घटकी

उत्पत्तिमें मृत्तिका उपादान है और कुम्भकार निमित्त। परंतु मकड़ी जो जाला बनाती है, उसमें वही निमित्त है और उपादान भी वही है। इसी प्रकार परमात्मा ही निमित्त कारण हैं और वे ही उपादान; क्योंकि उनसे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं।' श्रीभगवान् कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।

(गीता ७।७)

'अर्जुन! मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।'

शेष बातें जो आपने कही हैं, सब ठीक हैं।

अब आपके प्रश्नोंपर संक्षेपसे विचार किया जाता है—

(१) विभीषण भक्तराज राक्षसकुलमें कैसे हो गये?—यह प्रश्न ठीक नहीं है। विभीषण राक्षसकुलमें पहले हुए और भक्तराज पीछे बने। इसके सिवा राक्षसकुल कोई अधम कुल नहीं है, जहाँ भक्तराजका जन्म लेना उचित न माना जाय। अलकापुरीके अधीश्वर, उत्तर दिशाके लोकपाल राजाधिराज कुबेर भी राक्षसकुलके ही रत्न हैं। महर्षि पुलस्त्यके पुत्र महर्षि विश्रवा थे, उनके ही पुत्रोंकी परम्परा राक्षस-कुल कहलायी। रावणको '**उत्तम कुल पुलस्त्य कर नाती।**' कहा गया है। रावणने अपने अन्यायपूर्ण आचरणसे उस कुलकी प्रतिष्ठा घटा दी, अन्यथा वह श्रेष्ठ कुल था।

(२) हनुमान्‌जी भगवान् शंकरके अवतार हैं, इसका प्रमाण स्वयं गोस्वामी तुलसीदासजीके वचन हैं। दोहावलीमें उनके निम्नलिखित दो दोहे हैं—

जेहि सरीर रति राम सों सो आदरहिं सुजान।
रुद्र देह तजि नेहबस बानर भे हनुमान॥

जानि राम-सेवा सरस, समुझि करब अनुमान।
पुरुषा ते सेवक भए, हर ते भे हनुमान॥

(१४२-१४३)

(३) अष्टावक्र मुनिके पिताका नाम कहोड था। वे महर्षि उद्दालकके शिष्य थे। उद्दालकने सेवासे प्रसन्न हो उन्हें शीघ्र सब वेदोंका ज्ञान करा दिया और अपनी कन्या सुजाताका ब्याह भी कहोडके साथ कर दिया। सुजाता गर्भवती हुई। वह गर्भ अग्निके समान तेजस्वी था। एक दिन कहोड वेद-पाठ कर रहे थे। इतनेमें सुजाताके गर्भमें स्थित बालकने कहा—'पिताजी! मन्त्र-पाठ शुद्ध नहीं हो रहा है।' कहोडको अपमानका बोध हुआ। उन्होंने शाप दे दिया—'तू अभीसे टेढ़ी बात बोलता है, इसलिये आठ अङ्गोंसे टेढ़ा ही उत्पन्न होगा।' इस प्रकार अपने पिताके शापसे ही अष्टावक्र मुनि आठ अङ्गोंसे टेढ़े हुए थे।

उन दिनों राजा जनकके यहाँ वन्दी नामसे प्रसिद्ध एक विद्वान् ब्राह्मण आये थे। वे शास्त्रार्थ करते थे। उन्होंने राजासे यह शर्त स्वीकार करा ली थी कि 'मैं शास्त्रार्थमें जिसे हरा दूँ, उसे पानीमें डुबो दिया जाय; यही उसकी पराजयका दण्ड है। यदि मैं हार जाऊँ तो मुझे भी वैसा ही दण्ड मिले।' एक दिन सुजाताकी इच्छासे उसके पति धन लानेके लिये राजाके यहाँ गये। वहाँ वन्दीसे उनका शास्त्रार्थ हुआ। कहोड हार गये और उन्हें पानीमें डुबा दिया गया। जब अष्टावक्र कुछ बड़े हुए, तब एक दिन मातासे उन्हें पिताकी पराजयका समाचार ज्ञात हुआ। फिर तो वे स्वयं राजाके दरबारमें गये और उन्होंने वन्दीको शास्त्रार्थमें पराजित किया। उस समय वन्दीने कहा—'मैं वरुणका पुत्र हूँ। मेरे पिता यज्ञ कर रहे हैं, उसीमें बारह ब्राह्मणोंकी

आवश्यकता थी। मैंने चुने हुए बारह विद्वान् ब्राह्मणोंको पानीमें डुबानेके बहाने यज्ञमें भेजा है, वे लोग अब आते ही होंगे।' यह कहकर वन्दी स्वयं जलमें कूद पड़ा। वे बारह ब्राह्मण तत्काल वहाँ आ गये। कहोड अपने पुत्रपर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अष्टावक्रको समङ्गा नदीमें नहलाकर उनके सब अङ्ग सीधे कर दिये। यह कथा महाभारतके वनपर्वमें आती है।

(४) संसारमें तीन अवस्थाएँ देखी जाती हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। जागते हुए हम जो कुछ देखते, सुनते या व्यवहार करते हैं, वह जाग्रत्-अवस्थाके अन्तर्गत है। सो जानेपर हम स्वप्नमें जो कुछ देखते, सुनते या व्यवहार करते हैं, वह सब स्वप्नावस्था है। अत्यन्त गाढ़ निद्रामें जब मनकी वृत्तियाँ सुप्त हो जाती हैं और जीव अचेत होकर सोता है, वह सुषुप्त-अवस्था है। इन तीन अवस्थाओंसे जीव बँधा हुआ है। ईश्वर इन तीनोंसे मुक्त है। वही तुरीय-अवस्था (चौथी दशा) में है। मुक्त पुरुष भी ब्रह्म-साक्षात्कार करके इसी अवस्थामें स्थित होते हैं। इन तीनकी अपेक्षासे उसे तुरीय (चतुर्थ) कहते हैं; वास्तवमें वह सहज-अवस्था है। वही यथार्थ है।

(५) ब्रह्मानन्द अपना स्वरूपभूत आनन्द ही है। जब जीवभाव निवृत्त होकर तत्त्वज्ञ महात्मा अपनेको ब्रह्मस्वरूप या ब्रह्मसे अभिन्न अनुभव करने लगता है, तब अपने स्वरूपभूत चिन्मय आनन्दमें उसकी स्थिति होती है। वहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिपुटी नहीं होती। ज्ञेय आनन्द तो जड होता है। ब्रह्मानन्द ज्ञेय नहीं, ज्ञानरूप ही है। वहाँ ज्ञाता नहीं है। जिसे हम अनुभव करनेवाला या जाननेवाला कहते हैं, वह भी ज्ञानरूप ही है। ज्ञान और आनन्दमें नामका अन्तर है, वस्तु एक है।

(६) जैसे घंटा बजानेके बाद देरतक अनुरणन होता रहता है; उसी प्रकार 'ॐ' के 'अ+उ+म्' के उच्चारणके बाद जो एक अविच्छिन्न

ध्वनि होती है, उसीका नाम 'नाद' है। यह ॐकारका ही एक अवयव है।

(७) आवागमन केवल सूक्ष्मशरीरयुक्त जीवका होता है। वास्तवमें समस्त कर्म-संस्कार सूक्ष्मशरीरमें ही संचित रहते हैं। यह प्रकृतिमें स्थित पुरुष या जीवात्मा ही आता है, जाता है, शरीरान्तर ग्रहण करता है। सूक्ष्मशरीरका आश्रय लेकर ही जीव विषय-सेवन आदि करता है। यह जीव क्या है ? सर्वत्र व्यापक चेतन परमात्माका जो अंश सूक्ष्मशरीरमें आत्माभिमान कर लेता है, वही उस शरीरका 'जीव' कहलाता है। सद्गुरुकी वाणी और भगवान्‌की दयासे विवेक जाग्रत् होनेपर जब यह अभिमान मिट जाता है, तब नित्य मुक्तस्वरूप चेतन अपने ब्रह्मभावमें ही स्थित हो जाता है, उस शरीरसे अपना सम्बन्ध नहीं मानता। इसीको 'मोक्ष' कहते हैं। चेतन आश्रयसे परित्यक्त होनेपर वह सूक्ष्मशरीर अपने महाकारण प्रकृतिमें लीन हो जाता है; यही अज्ञान अथवा लिङ्ग-शरीरका नाश है। जो जीव मुक्त नहीं हैं, वे उस सूक्ष्मशरीरको ही अपना स्वरूप मानकर उसके जन्म लेनेपर अपना जन्म मानते हैं, उसके आवागमनको अपना आवागमन समझते हैं और उसके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख मानते रहते हैं। इसीसे जीवका आवागमन और जन्मान्तर माना जाता है। वस्तुतः चेतन आत्मा तो नित्य एवं व्यापक है; वह स्वयं नहीं आता-जाता। स्थूलशरीरसे सूक्ष्मशरीरका वियोग ही 'मृत्यु' कहलाता है और सूक्ष्म-शरीरका दूसरे नवीन स्थूलशरीरको ग्रहण करके माताके गर्भसे बाहर आना ही 'जन्म' है। चेतन आत्माका जन्म या मरण होता ही नहीं; वह अजन्मा है, अतएव अविनाशी भी है। सूक्ष्मशरीराभिमानी जीव ही 'यातना-देह' पाकर नरकके कष्ट भोगता है। अथवा देव-देह धारण करके स्वर्गके भोग भोगता है। पाप-पुण्य सब यह जीव ही करता है, स्थूलशरीर तो यन्त्र या साधनमात्र है। शेष भगवत्कृपा।

——★——

अंडे फल नहीं हैं

प्रिय बहन ! सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला। 'दूध मांस अथवा रक्त है और अंडे फल हैं' यह मानना सर्वथा भ्रमात्मक है तथा ऐसा मानने या कहनेवाले चाहे कितने ही बड़े आदमी क्यों न हों, उनका अनुकरण करना सर्वथा हानिकारक है। अंडे खाना मांस खानेके समान ही है। इसी प्रकार हर-एकके साथ खान-पान भी हानिकारक है। डाक्टर लोग किसी रोगीको छूकर हाथ धोते हैं। विलायती दवाओंकी शीशियोंके लेवलपर लिखा रहता है—'हाथसे स्पृष्ट नहीं' (Untouched by hand) तब हर किसीके साथ खान-पान करनेसे स्वास्थ्य न बिगड़ेगा, यह मानना प्रत्यक्ष भूल है। इससे देशोद्धार और प्रेमका क्या सम्पर्क है ? रूस, जर्मनी, ब्रिटेन, अमरीकाके लोग सब साथ-साथ खाने-पीनेवाले हैं; उनमें महायुद्ध क्यों हुआ ? ये सब अनाचार हैं और इनसे बचना चाहिये। परंतु विरोध करनेमें प्रेम और नम्रता होनी चाहिये। लड़ने, कलह करनेसे लाभ नहीं होगा, उन लोगोंका हठ और भी बढ़ेगा। घरमें रात-दिन लड़ाई-झगड़ा होना तो एक दूसरी बड़ी बुराईका उदय होना है। प्रेमसे समझाइये और उनसे कहिये कि मेरी प्रसन्नताके लिये, मुझे सुखी रखनेके लिये ही यह सब आपलोग मत कीजिये। न मानें तो लड़िये मत। अपने खान-पानकी व्यवस्था सादगी तथा प्रेमके साथ अलग कर लीजिये।

आजकल मछली, अंडे खानेका प्रचार किया जाता है, गोमांसतक खानेकी प्रेरणा दी जाती है; पर इसे आप रोक नहीं सकेंगे। ये सब पतनके लक्षण हैं। मनुष्यकी बुद्धि जब तमोगुणसे ढक जाती है, तब वह पापको पुण्य और पुण्यको पाप मानने लगता है। इसका परिणाम अधःपतन ही होता है—**'अधो गच्छन्ति तामसाः।'** शेष भगवत्कृपा।

═★═

भूल करनेवाले दयाके पात्र हैं

सम्मान्या बहन ! सादर हरिस्मरण। आपने अपने पत्रमें जो कुछ लिखा है, वह अवश्य ही दुःखजनक है; परंतु आपने यदि क्रोधको आश्रय दिया और अपने भजन-पूजनके कारण ऐसी घटना हुई, यों माना तो इससे आपका कोई लाभ नहीं है। आपका मानसिक कष्ट तो स्वाभाविक है; परंतु आप प्रयत्न करके उसे दूर न कर सकें, ऐसी बात तो नहीं लगती। स्थिति चाहे न पलटे, परंतु आपका दुःख तो दूर हो ही सकता है। आपके पति जो कुछ कर रहे हैं, वह बिलकुल अनुचित है। परंतु वे जब समझानेसे नहीं मानते, चिढ़ते हैं और समझानेपर आपको उलटा तंग करते हैं, तब फिर आप ऐसा अवसर ही क्यों आने देती हैं ? आपको चुपचाप भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। जिससे वे ही आपके पतिका सुधार करें। आप घर छोड़कर कहीं जायँ, यह तो और भी अनर्थकी बात है। आजकल समाजकी स्थिति बहुत ही शोचनीय है। अकेली स्त्रीका घरसे बाहर जाना किसी प्रकार भी निरापद नहीं है। मेरी सम्मतिमें तो आपको अपने पतिके सुधारके लिये भगवान्‌से आर्त-प्रार्थना करनी चाहिये। विरोध करना, लड़ना-झगड़ना छोड़कर सहज प्रेमका व्यवहार करना चाहिये। उस लड़कीको अपनी छोटी बहिन समझकर, उससे द्वेष न करके स्नेह करना चाहिये और उसके सुधारके लिये भी भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। आपके हृदयमें जरा भी द्वेष न होकर यथार्थमें दयाका भाव और व्यवहारमें कठोरता न होकर स्नेह होगा तो उसपर भी प्रभाव पड़ेगा ही। वास्तवमें भूल करनेवाले दयाके पात्र हैं, घृणा और द्वेषके नहीं।

आपके पतिने पहलेकी अपेक्षा पाँच रुपये खर्च कम देना आरम्भ कर दिया है, इससे भी आपको दुःखी नहीं होना चाहिये। मान लीजिये—उनकी कमाई इससे भी कम होती तो आप क्या करतीं ? कितने गरीब आदमियोंका काम कितने कम पैसोंमें चलता है ! वैसे ही, उन लोगोंकी ओर देखकर आपको अपना काम चलाना चाहिये। दुःख तो असंतोषसे होता है। संतोष आया कि दुःख गया। मनुष्य अपने-आप ही असंतोषकी आगमें जला करता है। वे झगड़ा करते हैं, पर आप झगड़ा न करें तो झगड़ा करनेके लिये कोई आपको बाध्य नहीं कर सकता। आप भगवान्‌का भजन करती हैं; फिर भगवान्‌के भजनका कोई बुरा परिणाम हो, यह तो आपको मानना ही नहीं चाहिये। बल्कि इसमें तो भगवान्‌की विशेष कृपा माननी चाहिये कि प्रभुने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि पति एवं घरमें आपकी आसक्ति ही न हो। आपको अब इन सब बातोंसे सर्वथा उदासीन होकर विशेषरूपसे भगवान्‌का भजन करना चाहिये। घर छोड़कर जानेपर भी अगर मन नहीं पलटा तो बाहर भी वही जलन रहेगी, जो अब है और यदि मन पलट गया तो फिर किसी भी जगह भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं। अतः आप निश्चिन्त मनसे भगवान्‌का भजन करें। उसीमें आपका और उनका—दोनोंका लाभ है। शेष भगवत्कृपा।

★

पतिकी भूल

प्रिय बहन ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके पतिदेव यों सदाचारी हैं, उच्च सरकारी पदपर काम कर रहे हैं, सब जगह उनकी प्रशंसा है, पर उनमें दो-एक बुरी आदतें हैं, जिनका आपने उल्लेख किया है। इसके लिये आपको अत्यन्त नम्रता और प्रेमसे काम लेना चाहिये। न तो लड़ना-झगड़ना चाहिये न आत्महत्याकी बात ही सोचनी चाहिये। बच्चेको देखकर आत्महत्याके विचार शिथिल पड़ जाते हैं, यह तो ठीक ही है। किसी भी हेतुसे आत्महत्याका विचार करना पाप है। आपको वे यह कह देते हैं कि 'तुम्हारी-हमारी जीवनमें कभी नहीं बनेगी', जिससे आपको दुःख होता है, जो स्वाभाविक है। परंतु दुःखसे लाभ नहीं होगा। आप उनका सदैव मङ्गल चाहती हैं, उन्हें ईश्वरवत् मानती हैं—आपकी यह मान्यता तो हिंदू-नारीका गौरव है। इसके लिये आप बधाईकी पात्र हैं; परंतु उन्हें भी आपको सुख पहुँचानेकी ही चेष्टा करनी चाहिये। वे ऐसी चेष्टा नहीं करते, यह भूल करते हैं। पर उनकी भूल देखकर आप भी भूल करें और अपने धर्मको छोड़ दें, यह आवश्यक नहीं है। पत्नी अपने धर्ममें दृढ़ रहकर बिगड़े-से-बिगड़े पतिको ठीक रास्तेपर ला सकती है। यह सत्य है कि आजकल पतियोंने प्रायः अपना धर्म छोड़ दिया है और वे पत्नियोंपर या तो मनमाना अत्याचार करते हैं या वासनावश उनके गुलाम हुए रहते हैं। ये दोनों ही बातें ठीक नहीं हैं। जिस घरमें दुःखी स्त्रियाँ रोती हैं, वह घर नष्ट हो जाता है और जिस घरमें शास्त्रानुसार नियमाधीन व्यवहार न होकर अनर्गल विलास होता है वह घर भी बिगड़ जाता है,

प्रेम और संयम—दोनोंकी आवश्यकता है। आप भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये कि आपके पतिदेवकी बुद्धि सुधरे तथा अपनी ओरसे उनके साथ अत्यन्त प्रेमका सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार कीजिये। हिंदू-स्त्री मूर्तिमती तपस्या है, इसीमें उसका गौरव है और उसको अपनी अनादिकालीन परम्पराके अनुसार इस गौरवकी सदा रक्षा करनी चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

—★—

पुरुषका पाप

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके विचार पापपूर्ण हैं। आपको तुरंत अपनी चाल बदलनी चाहिये। निर्दोष स्त्रियोंपर होनेवाले इस प्रकारके अत्याचारोंने ही स्त्रियोंके मनोंमें पुरुषोंके प्रति घृणा उत्पन्न की है। पत्नीका यह धर्म कदापि नहीं है कि वह आपके पापमें सहायता करे—शराब पीये, व्यभिचार करे और आपकी व्यभिचार-प्रवृत्तिमें सहायक हो। आपका मानो कोई धर्म ही नहीं है। याद रखिये—स्त्री पुरुषकी गुलाम नहीं है, दासी नहीं है; वह अर्धाङ्गिनी है, सखी है। उसका भी अधिकार है। उसके भी मन हैं, उसकी भी अपनी इच्छाएँ हैं, उसका भी अपना गौरव है। वह पत्थरकी शिला नहीं है। सुख-दुःखका अनुभव उसे भी होता है। आपका धर्म है—उसे सुख पहुँचाना, उसे मित्र मानकर उसको अपने बराबर समझना, उसकी इच्छाको मान देना; और उसको पापमें प्रवृत्त करनेकी बात तो कभी सोचनी ही नहीं चाहिये। स्त्री-पुरुष एक-दूसरेके पूरक हैं। आपका जो बर्ताव अपनी पत्नीके प्रति है और जिससे आप पत्नीके पातिव्रत्य धर्मके नामपर न्याययुक्त सिद्ध करना चाहते हैं, वह आपकी और भी हृदय-हीनता है। इससे आप बड़ा धोखा खायेंगे। उसके साथ सद्व्यवहार करके उसके हृदयका मूक आशीर्वाद लीजिये। जहाँ स्त्री दुःखिनी होकर रोती है, वह घर नष्ट हो जाता है और जो पुरुष हृदयहीन होकर पत्नीको दुःख देता है, उसे अगले जन्मोंमें विधवा स्त्री होकर विविध दुःख भोगने पड़ते हैं। सावधान हो जाइये। शेष भगवत्कृपा।

★

पापको घटाइये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने ब्राह्मण-जातिमें जन्म लिया है और आप व्याकरण-मध्यमाके तीन खण्डोंमें उत्तीर्ण और चतुर्थमें अनुत्तीर्ण हैं; फिर भी आपने यह बहुत बुरा काम किया है। किसी भी व्यक्तिकी मलिन वासनाको जगानेमें सहायता करना—वह भी अपने इन्द्रियसुखके लिये—मनुष्यकी बड़ी नीचाशयता है। उस विधवा बहिनको आप सगी बहिन मानकर उसकी सहायता करते, उसे इन्द्रियदमनके शुभमार्गमें प्रेरित करते तो वह आपका धर्म था; पर आपने बड़ी भूल की। तन-मन-धनका अर्पण तो भगवान्‌के प्रति होना चाहिये। यह अर्पण नहीं, वासनाकी गुलामी है, मोहवश अपनेको पतनके गर्तमें गिराना है। घर-परिवारके लोग इस बातसे अप्रसन्न हैं और आपको समझाते हैं तथा आपके न माननेपर विरोध करते हैं—यह उनका विरोध उचित ही है। आपका अपनी माँ-बहिन-भाई किसीसे प्रेम नहीं है—यह स्वाभाविक है। विषयवासनामें फँसे हुए मनुष्यमें प्रेम कहाँ रहता है, वह तो अंधा है। आपकी पत्नी अच्छी है, उससे ढाई सालकी एक बच्ची है; पर वह पत्नी आपको पैसेभर भी पसंद नहीं है, यह आपका दुर्भाग्य है। जो कुछ हो, अब जब कि आपने उस विधवा बहिनके साथ भी विवाह कर लिया है, तब उसको निबाहना भी आपका कर्तव्य हो गया है। किसीके जीवनको बिगाड़कर उसे छोड़ देना भी पाप है। अवश्य ही अभी तो आप उसे छोड़ भी नहीं सकते, वासनाकी बाढ़में बह जो रहे हैं। तथापि आपने जो यह लिखा कि 'मैं लोभ-लालचमें फँसकर इस बुराईमें फँस

गया, पर अब तो वह आशा भी समाप्त हो रही है'—इससे यह अनुमान होता है कि आपने उस विधवासे कुछ और भी लाभ उठानेकी आशा की होगी और अब वह नहीं पूरी होती दीखती, तब ऐसी बातें आपके मनमें आने लगी हैं। यह बड़ी नीची मनोवृत्ति है। मेरी रायमें आप अब दोनों स्त्रियोंको रखिये। दोनोंका समान भावसे पालन कीजिये और यथासाध्य दोनोंमें प्रेम बना रहे, ऐसी चेष्टा करते रहिये। पापका स्वरूप जितना छोटा हो, उतना ही अच्छा है। साथ ही कातर भावसे भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये। यदि उस विधवा बहिनके तथा आपके मनमें अब भी पवित्र भाव आ जाय और आपलोग शारीरिक सम्बन्धका त्याग कर दें तो पाप अब भी घट जायगा। भगवान्‌की विश्वासपूर्वक की हुई प्रार्थनासे ऐसी बात होनी असम्भव नहीं है। शेष भगवत्कृपा।

—★—

दो प्रकारकी आत्महत्या

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद ! आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) 'आत्महत्या' दो प्रकारकी होती है—एक लौकिक, दूसरी पारमार्थिक। विष खाकर, आगमें जलकर, पानीमें डूबकर या किसी अस्त्र-शस्त्रका अपने ही ऊपर प्रहार करके जो अपने शरीर एवं जीवनको जान-बूझकर नष्ट कर दिया जाता है, उसका नाम लौकिक आत्महत्या है। इसका परिणाम लोक-परलोक दोनोंमें बड़ा भयंकर होता है। मनुष्य जिस क्षणिक दुःख, शोक या मनस्तापसे मुक्त होनेके लिये आत्महत्या करता है, वह अनन्त गुना होकर अनन्त कालतक उसे परलोकमें कष्टदायक होता है। आत्महत्यासे केवल स्थूलशरीरका नाश होता है। सूक्ष्मशरीर तो रहता ही है; उसीके द्वारा जीव वास्तवमें सुख-दुःखका अनुभव करता है। और जो मानव-शरीर पाकर भी ज्ञान या भक्तिका साधन नहीं करता—अपनेको इस संसार-बन्धनसे मुक्त करनेके लिये बताये हुए शास्त्रीय प्रयत्नोंकी ओरसे जीवनभर उदासीन रहता है, वह भी आत्महत्या ही करता है। यह पारमार्थिक आत्महत्या है। लौकिक आत्महत्यासे केवल स्थूलशरीरका अन्त होता है; परंतु दूसरे प्रकारकी जो आत्महत्या है, वह जीवको अनन्त कालतक जन्म-मृत्यु एवं नरकयन्त्रणाके चक्करमें डाले रखती है।

(२) ऊपर जिसे लौकिक आत्महत्या कहा गया है, उसमें और शरीरहत्यामें कोई अन्तर नहीं है।

(३) किसीके अस्तित्वको रखना या न रखना यह ईश्वरके

अधीन है। जिसने अस्तित्व दिया है, वही उस वस्तुके अस्तित्वको मिटा सकता है। स्पष्ट शब्दोंमें यों समझना चाहिये कि जो जन्म या जीवन दे सकता है, वही मारनेका भी अधिकार रखता है। जो किसीको जिला नहीं सकता, वह किसीको मारनेका भी अधिकारी नहीं है। हमारा शरीर हमारे कर्मानुसार भगवान्‌ने हमको दिया है, अतः वे ही जब चाहें, उसे वापस ले सकते हैं। यदि हम उसे भार मानकर अपनी ओरसे मिटानेका यत्न करते हैं तो पापके भागी होते हैं।

(४) देशभक्ति भी एक धर्म है। वह धर्मसे भिन्न नहीं है। अधर्मसे देशभक्ति नहीं हो सकती। देशभक्तिका साधन भी धर्म ही है। आजके जगत्‌में धर्मकी अपेक्षा देशभक्तिको महत्त्व दिया जाता है, यह नहीं मानना चाहिये। धर्म छोड़नेसे देशभक्तिका होना सम्भव नहीं है। जिसका नैतिक चरित्र गिरा हुआ है, वह सच्चा देशभक्त नहीं है; वह देशभक्तिका ढोंग करता है, वह अपनी आचारहीनताके द्वारा देशको रसातलकी ओर ले जानेवाला है। देशभक्तकी सच्ची कसौटी यह है कि उसका चरित्र बहुत ऊँचा हो। जो लोग देशभक्तिका ढोंग करनेवाले किसी दुराचारीको महत्त्व देते हैं, वे देशभक्तिके पवित्र आदर्शको जानते ही नहीं। शेष भगवत्कृपा।

———★———

कुछ प्रश्नोंका उत्तर

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। धन्यवाद! आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) पुरुषको ही गुरुकी शरणमें जाकर आत्मज्ञानका उपदेश लेना चाहिये, इसके लिये आप प्रमाण चाहते हैं। प्रमाण बहुत हैं, सबका संग्रह करनेसे पत्रका कलेवर बढ़ेगा; अतः दो-एक प्रमाण ही उपस्थित करते हैं। मु० उ० १। २। १२ के मन्त्रमें कहा गया है—

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।'

अर्थात् 'उस नित्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये वह जिज्ञासु पुरुष गुरुकी ही शरण ले।'

तेरहवें मन्त्रमें कहा गया है कि गुरु उस शरणागत एवं शम-दमसम्पन्न शिष्यको ब्रह्मविद्याका उपदेश करे।

उक्त दोनों स्थलोंमें शिष्यके लिये पुँल्लिङ्ग विशेषण आये हैं, स्त्रीलिङ्ग विशेषण कहीं नहीं आया है। इससे पूर्वोक्त बातकी सिद्धि होती है। उपनिषदोंमें जितनी आख्यायिकाएँ आयी हैं, उनमें सब जगह पुरुष ही विभिन्न सद्गुरुकी शरण हुए बताये गये हैं, कहीं भी स्त्री शिष्यने तत्त्वज्ञानके लिये किसी गुरुकी शरण ली हो, यह नहीं आया है।

(२) गीतामें स्त्रियोंके लिये जो परम गतिकी प्राप्ति बतायी गयी है, वह भगवान्‌की शरणमें जानेसे होती है। भगवान्‌ने (गीता ९। ३२ में) श्रीमुखसे कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

'अर्जुन ! मेरी शरण लेकर जो पापयोनि जीव हैं, वे तथा स्त्री, वैश्य एवं शूद्र भी परम गतिको प्राप्त होते हैं।'

भगवान् सबके अन्तरात्मा हैं, प्रियतम हैं, पति हैं तथा सद्गुरु हैं; अतः उनकी शरण लेनेसे स्त्रीके सतीत्वपर कोई आँच नहीं आती। परंतु जो पर-पुरुष यति, गृहस्थ अथवा विरक्त हैं, उनकी शरण लेनेसे स्त्रीके सतीधर्मकी मर्यादाको ठेस पहुँचती है। अतः स्त्री भगवान्‌की उपासना तो कर सकती है, परंतु किसी पर-पुरुषको गुरु नहीं बना सकती। इसीलिये मैत्रेयीने अपने पति याज्ञवल्क्यजीसे ही तत्त्वज्ञानका उपदेश लिया, उन्होंने किसी दूसरे साधुको गुरु नहीं बनाया था।

(३) पत्नीको पतिसेवासे ही सब कुछ मिल जाता है, इस कथनके लिये प्रमाणोंकी कमी नहीं है। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि 'वैवाहिक विधि ही स्त्रियोंके लिये वैदिक संस्कार है। पतिकी सेवा ही उनके लिये गुरुकुलवास है तथा घरका काम-काज ही उनके लिये अग्निहोत्र है।'

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥

(२। ६७)

स्त्रियोंके लिये अलग व्रत, यज्ञ और उपवासकी विधि नहीं है। वह जो पतिसेवा करती है, उसीसे स्वर्गलोकमें पूजित होती है—

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

(मनु० ५। १५५)

विष्णुपुराणमें वेदव्यासने महर्षियोंसे कहा है—नारी अपने पतिके हितमें संलग्न रहकर यदि मन, वाणी तथा कर्मसे उनकी सेवा करे तो

अधिक क्लेश सहन किये बिना ही पतिरूप परमेश्वरका सालोक्य (उनके परम धाममें निवास) प्राप्त कर लेती है—

योषिच्छुश्रूषणाद् भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा।
तद्धिता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः॥
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा।

(६।२।२८-२९)

(४) भगवान्ने गीता ९। ३२ में स्त्रीके लिये जिस 'परा गति' की प्राप्ति बतायी है, उसका साधन भी उन्होंने स्वयं कह दिया है—'अपनी शरणागति'। यदि नारी अपने 'पतिको' भगवान्का प्रतीक मानकर भगवद्भावसे उसकी सेवा करे तो निश्चय ही उस परम गतिको पा सकती है। उपर्युक्त शास्त्रवचन इस कथनके समर्थक हैं।

(५) पतिव्रता स्त्री पातिव्रत्यके प्रभावसे ही दिव्य ज्ञान प्राप्त कर लेती है, इसके शास्त्रमें पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं—महाभारत वनपर्वमें पतिव्रताका उपाख्यान देखिये, जिसने एक तपस्वीके अभिमानको चूर्ण कर दिया था। तपस्वीने क्रोधपूर्वक एक पक्षीकी ओर देखा और वह जलकर भस्म हो गया। इसपर तपस्वीको अपनी तपःशक्तिका गर्व हो आया। वह एक गृहस्थके घरपर भिक्षाके लिये गया और आवाज दी। उस घरमें पतिव्रता ब्राह्मणी अपने पतिकी सेवामें लगी थी, उसने तपस्वीको ठहरनेके लिये कहा। जब वह देर करके भिक्षा लेकर द्वारपर आयी, तब तपस्वीने उसे भी क्रोधपूर्वक देखा। ब्राह्मणीने शान्तभावसे उत्तर दिया—'बाबा! मैं वह पक्षी नहीं, जो तुम्हारे क्रोधसे जल जाऊँगी। भिक्षा लो और धर्मव्याधके पास जाकर कर्तव्यकी शिक्षा ग्रहण करो।' ब्राह्मणके विनयपूर्वक पूछनेपर पतिव्रताने बताया—'मुझे यह दिव्य ज्ञान पतिसेवाके प्रभावसे प्राप्त हुआ है।' पद्मपुराणमें

भी इस पावन इतिहासका वर्णन है। अरुन्धती और अनुसूयाजीकी पातिव्रत-शक्तिकी महिमा सर्वत्र प्रसिद्ध है। अनुसूयाजीने अपनी पतिसेवाके प्रभावसे ब्रह्मा, विष्णु और शिवको भी क्षणभरमें नवजात शिशु बना दिया था। वाल्मीकिरामायणमें अनुसूया-सीता-संवादमें पातिव्रत्यकी महामहिमाका वर्णन देखने और पढ़नेयोग्य है। आप उसे भी देख सकते हैं।

(६) पति ही स्त्रीका गुरु है—'**पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्**'—यह वचन सर्वत्र प्रसिद्ध है। तीसरे प्रश्नके उत्तरमें जो मनुस्मृति २। ६७ का श्लोक उद्धृत किया गया है, उससे भी इसकी पुष्टि होती है। मीराँजी पतिकी मृत्युके बाद वृन्दावनमें जाकर भगवान्‌के शरणागत हुईं। पतिने तो उनके लिये भगवान्‌की आराधनाके निमित्त एक मन्दिर बनवा दिया था, जो आज भी चित्तौड़-दुर्गमें विद्यमान है। पतिके जीवनकालमें मीराँजी घर रहकर ही भगवान्‌की आराधना करती थीं। पतिकी मृत्युके बाद जब देवरने उन्हें बहुत सताया, तब वे घर छोड़कर वृन्दावनमें गयी थीं। सती स्त्री पतिकी आज्ञा लेकर परम पुरुष भगवान्‌की आराधना कर सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं है। शास्त्रमें कहीं भी स्त्रियोंके लिये पर-पुरुषको गुरु बनानेका दृष्टान्त नहीं मिलता। आपने लिखा है, बहुत-सी भक्त स्त्रियोंने सद्गुरुकी शरण ली है; परंतु उदाहरण एकका भी आपने नहीं दिया। शास्त्रीय उदाहरण प्रस्तुत करें कि किस सती स्त्रीने किस पर-पुरुषको गुरु बनाया है। भगवान्‌को गुरु बनाना तो ठीक ही है।

आपने लिखा है, स्त्रियोंके लिये भी भगवान्‌की शरणमें जानेके लिये गुरुकी आवश्यकता वैसी ही है, जैसी पुरुषोंके लिये। किंतु मेरी तुच्छ सम्मति यह है कि स्त्रियोंको दूरसे साधु-महात्माओंके

सत्सङ्ग-व्याख्यान, उपदेश आदि तो सुनने चाहिये और भगवद्भाव होनेपर स्वयं मनसे भगवान्‌की शरण ग्रहण करनी चाहिये। गुरुकी शरण उनके लिये आवश्यक नहीं है। बहुत बार 'गुरु' के नामपर आजकल ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं, जो स्त्रियोंको भगवान्‌से विमुखकर अपनी नीच सेवामें लगा लेते हैं। ऐसे धोखेसे बचनेके लिये यह आवश्यक है कि स्त्री भगवान्‌को ही गुरु बनाये। मानव-गुरु पर-पुरुष होनेके कारण स्त्रीके लिये अस्पृश्य तथा अग्राह्य है और आजकलके दूषित युगमें तो विशेष सावधानीकी आवश्यकता है। शेष भगवत्कृपा।

——★——

ईश्वर सत्य है और सर्वत्र है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके प्रश्नोंके संक्षिप्त उत्तर निम्नलिखित हैं—

१—ईश्वर सत्य है और सर्वत्र है। तुकाराम, नामदेव, सूरदास, तुलसीदास, गौराङ्ग महाप्रभु, श्रीरामकृष्ण परमहंस आदिपर अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है। जो भी भगवान्‌का सच्चा भक्त हो, वह आज भी भगवान्‌के दर्शन प्राप्त कर सकता है।

२—रूस तथा चीनमें क्या है और क्या नहीं है, यह तो विवादकी बात है। किंतु आप स्वयं कहते हैं कि वहाँ सम्पन्नताके साथ ईमानदारी-सत्य आदि हैं और भारतमें दरिद्रताके साथ चोरी-बेईमानी आदि। इसका अर्थ यही है कि दोनों स्थानोंके लोग अपने-अपने कर्मोंका फल भोग रहे हैं। भगवान्‌को केवल मुखसे मानना या न मानना कोई अर्थ नहीं रखता। मुखसे भगवान्‌को मानकर भी जो पाप करते हैं, उनका भगवान्‌को न माननेवालोंसे अधिक दुःखी रहना तो ठीक ही है। उनका अपराध तो और भी बड़ा हो जाता है।

३—भारतमें जो वर्तमान समाज है, व्यापक रूपमें वह अध्यात्ममें विश्वास कहाँ करता है ? विदेशोंकी स्वतन्त्रताने उन्हें सिखाया कि सत्य-ईमानदारी आदिसे व्यावहारिक क्षेत्रमें लाभ होता है। जहाँ यह लाभ नहीं दीखता, वे लोग भी सद्गुणोंकी अपेक्षा नहीं करते। भारतकी पराधीनताने दरिद्रता दी और पाश्चात्त्य प्रभावने अर्थलोलुपता दी। दोनोंके मेलसे यहाँ छल, कपट, दम्भ आदिकी बहुलता हो गयी। अध्यात्मवाद यदि होता तो ये दुर्गुण आते ही नहीं। दुर्गुण तो आये

ही हैं अर्थको प्रधान माननेसे। सद्गुण यदि कहीं व्यावहारिक कारणोंसे हैं भी तो उनकी नींव दुर्बल है। वे तो केवल भगवान्‌की मान्यताके आधारपर ही सुदृढ़ हो सकते हैं। किंतु वह आस्तिकता सच्ची होनी चाहिये। केवल मौखिक या दिखाऊ आस्तिकता तो दम्भ है।

४—श्री × × × × × × का चुनावमें विजयी होना केवल यह सिद्ध करता है कि लोग उनकी विचारधाराके हैं। वह विचारधारा ठीक है या गलत, यह इससे सिद्ध नहीं होता। रही भगवान्‌की बात, सो भगवान्‌के लिये तो सभी पुत्र समान हैं। मनुष्यकी कर्ममें स्वतन्त्रताका अर्थ क्या रहे, यदि भगवान् उसके कर्मोंको उलट-पुलट कर दिया करें। विजय, यश एवं सम्पन्नता यदि दम्भ या मक्कारीके फल हैं तो सभी दम्भी, मक्कार सफल या विजयी होने चाहिये। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि विजय, सम्मान, धन, सुख आदि मनुष्यको पूर्वजन्मके कर्मोंके फलसे (प्रारब्धसे) मिलते हैं। अपने वर्तमान पाप या पुण्यका फल तो उसे आगे भोगना पड़ेगा।

५—भगवान्‌ने द्रौपदीकी लाज तब बचायी, जब उसने कातर-भावसे भगवान्‌को पुकारा। हमारे पास एक भी पत्र इस आशयका नहीं आया कि देश-विभाजनके समयके उपद्रवोंमें किसीने भगवान्‌को श्रद्धासे पुकारा हो और उसकी रक्षा न हुई हो। किंतु यह हमारा कितना मानसिक पतन है कि ऐसी दुरवस्थामें भी हमें भगवान्‌की याद नहीं आती।

६—एक संतकी भी अपने शरीरमें आसक्ति नहीं होती; तब भगवान्‌की भला मूर्तियों या मन्दिरोंमें आसक्ति कैसे हो सकती है, जो वे उनकी रक्षा करने दौड़ पड़े। मूर्तिका महत्त्व तो आराधकके लिये है और यदि आराधक उसकी रक्षाके लिये प्राण देता है तो उसे भगवान्‌के

लोककी प्राप्ति होती है। यदि वह भगवान्‌से ही मूर्तिकी रक्षाके लिये कातर पुकार करे तो वह भी सम्भव है; किंतु सच्चे भक्त तो कर्तव्यपर बलिदान होना ही पसंद करते हैं।

७—आप यह कैसे मानते हैं कि हिंदू-जातिका ह्रास पाप-पुण्यके विचारसे हुआ है? इतिहासमें जो जातियाँ लुप्त हो गयीं, क्या वे पाप-पुण्यके विचारके कारण लुप्त हुईं? सच तो यह है कि हिंदू-जातिने पुण्यको, धर्मको छोड़ दिया है, यही उसके ह्रासका कारण है। धर्म शक्ति देता है, दुर्बलता या कायरता नहीं दिया करता।

८—हमारे लोकनेता एवं हमारा नवशिक्षित समाज कैसा है, यह तो स्पष्ट है। सनातनधर्मकी रक्षा मनुष्यके किये होगी, यह तो सोचना ही अहंकार है। किंतु मनुष्यका कर्तव्य है—धर्मकी सेवा एवं रक्षाके लिये प्रयत्न करना; और जो भी विचारशील हैं, उन्हें अपने कर्तव्यका यथाशक्ति पालन करना चाहिये।

९—लक्ष्मी और कीर्ति तो प्रारब्धजन्य पुण्यके फलस्वरूप बढ़ती हैं। इस जीवनमें जो दम्भ, छल, कपट आदि करते हैं, वे कोई भी हों और लोग उन्हें कुछ भी कहें या समझें, अपने कर्मोंके फलस्वरूप अनन्त दुःख तो आगे चलकर उन्हें भोगने ही पड़ेंगे।

१०—धन और कीर्ति प्रारब्धसे मिलते हैं।

११-१२—धन-कीर्ति-स्वास्थ्यादि भगवान्‌की प्रार्थनासे भी मिल सकते हैं। प्रार्थनाके लिये न कोई प्रकार है, न स्थान और न समय। पूर्ण विश्वाससे, अनन्य भावसे जो सहज कातर प्रार्थना होती है, वह कभी व्यर्थ नहीं जाती। प्रार्थना हृदयसे उठती है, उसे पुस्तकके द्वारा सीखा नहीं जाता। बँधे शब्द प्रार्थना नहीं हैं—भगवान्‌के प्रति अपने हृदयके सच्चे भावोंका पूर्ण विश्वाससे निवेदन करना ही प्रार्थना है।

१३—संध्या अवश्य करनी चाहिये। संध्या न करनेसे पाप लगता ही है।

१४—गायत्री-मन्त्रके आदि-अन्तमें प्रणव लगानेमें गृहस्थके लिये भी कोई दोष नहीं है।

१५—मनकी एकाग्रता तो अभ्याससे होती है। धैर्य एवं नियमपूर्वक अभ्यास करते रहनेसे धीरे-धीरे मन एकाग्र होने लगेगा।

१६,१७,१८—अनेक बातें ऐसी होती हैं, जो हमें सह लेनी चाहिये। यदि हम उन्हें सह नहीं लेते तो वे सुधरती तो हैं नहीं, उलटा हमें दुःख होता है। माता-पत्नी-पुत्र आदि हमें प्रारब्धसे ही प्राप्त हुए हैं। हमें सबके साथ रहकर काम चलाना है। जैसे हमारे स्वभावमें अनेक दुर्बलताएँ हैं, वैसे ही दूसरेके स्वभावमें भी हैं। आप बम्बईमें जहाँ रहते हैं, वहाँ दूसरोंसे कैसे निभा लेते हैं। घरमें भी यदि आप वही व्यवहार करें तो बड़ी शान्ति मिलेगी। माताजी किसी बातपर बिगड़ें तो क्षमा माँग ली, पत्नीसे भूल हुई तो हँसकर कह दिया—'तुमसे तो यह भूल होती ही है; अच्छा कोई बात नहीं।' इससे दो बातें होंगी—(१) पत्नी और माताजी आपसे स्नेह करने लगेंगी। माताजी स्वयं कहेंगी—'बिजली जल गयी तो क्या हुआ ?' यदि आप उनके कहनेसे पहले कहें—'माताजी ! क्षमा करें। कल मेरे दोषसे बिजली देरतक जली।' पत्नी स्वयं अपने दोषोंको दूर करनेका प्रयत्न करेगी। (२) मान लीजिये, ये बातें न भी हों तो आपके चित्तको क्षोभ नहीं होगा। भूलें तो अब भी होती ही हैं। हम किसीको समझाकर या डाँटकर, झगड़कर ऐसा नहीं बना सकते कि वह हमारी इच्छाके अनुकूल ही चले। फिर यह बात भी नहीं है कि हमारा सोचना सर्वथा भूलसे रहित ही होता है। हम स्वयं नम्र बनकर, झुककर, क्षमा करके, विचार करके सबको

निभा ले सकते हैं—चित्तकी शान्तिका यही उपाय है।

मााताजीकी वृद्धावस्थाका ध्यान रखना चाहिये। उन्हें कष्ट नहीं होना चाहिये। बच्चोंकी पढ़ाई जहाँ ठीक हो, उन्हें वहीं रखना चाहिये, किंतु पत्नीको तो माताजीके पास ही रखना ठीक है।

आत्महत्या बड़ा भारी पाप है। इससे किसी कष्टकी निवृत्ति नहीं होती। प्रारब्ध तो आगे भी भोगना ही पड़ेगा और आत्महत्याके पापके फलरूपमें वह और घोरतर हो जायगा। अतः यह बात तो मनसे भी निकाल देनी चाहिये। भगवान् परम दयालु हैं। उनकी कृपापर पूर्ण विश्वास करके उन दयामयसे प्रार्थना करना ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

भगवद्दर्शनके लिये तीव्र उत्कण्ठाकी आवश्यकता

सप्रेम हरिस्मरण।········आपका पत्र मिला। भगवान्‌के दर्शन इस कालमें भी हो सकते हैं। बहुत-से भक्त इसके प्रमाण हैं। दर्शनका उपाय केवल भगवत्कृपा है। भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके जो केवल दर्शनके लिये ही तीव्र उत्कण्ठा पैदा कर लेता है, उसे भगवत्कृपासे दर्शन प्राप्त हो जाते हैं। परंतु मनकी कामनाओंकी पूर्तिके लिये भगवान्‌के दर्शन चाहना बुद्धिमानी नहीं है। विषयासक्ति और विषयकामना तो भगवान्‌के दर्शनमें विघ्नरूप हैं। इनके रहते भगवद्दर्शनकी तीव्र उत्कण्ठा प्रायः होती ही नहीं। अतएव विषयोंमें निरन्तर दुःख-दोष देखकर उनसे मनको हटाना चाहिये।

आत्महत्या तो महापाप है। भगवद्विश्वासी पुरुष कभी आत्महत्याकी बात सोच ही नहीं सकता। आप यदि साधनामें दत्तचित्त होकर लगना चाहते हैं तो भगवान्‌की अहैतुकी कृपापर विश्वास करके भगवान्‌के नामका जप कीजिये। भगवान्‌के प्रेमपूर्वक लिये हुए नामसे सब कुछ सिद्ध हो सकता है। शेष भगवत्कृपा।

——★——

भगवान् विश्वम्भर हैं

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला था ……। उत्तरमें निवेदन है कि भगवान् विश्वम्भर हैं। वे ही सबका भरण-पोषण करते हैं। विश्वके स्रष्टा तथा संहारक भी वे ही हैं। आप कई प्राणी ऐसे देखते होंगे, जिनके विषयमें आप सोचते होंगे कि ये खानेको कुछ भी नहीं पाते। परंतु ऐसी बात नहीं है। जो जीवित हैं, उन्हें जीवन-धारणोपयोगी वस्तु अथवा शक्ति भगवान्‌से ही प्राप्त होती है। माली पेड़ लगाता और उसे सींचता है। जिस पेड़को वह रखना नहीं चाहता, उसे सूखनेपर या बिना सूखे ही उखाड़ देता है। विश्वम्भर भी जिसे रखते हैं, उसे जीवन-धारणका साधन देते हैं; जिन्हें नहीं रखना चाहते हैं, उन्हें इस जगत्‌से उठा लेते हैं। उन्होंने प्रत्येक जीवके कर्मानुसार उसकी आयु नियत कर दी है। जबतक आयु शेष रहती है, तबतक उसे भोजनादि देकर वे ही जीवित रखते हैं। आयुकी समाप्ति होनेपर वे ही उस शरीरसे उसको अलग कर लेते हैं। स्थूलशरीरसे अलग होकर भी जीव अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है और उस समय भी उसे संरक्षण एवं भरण-पोषणकी आवश्यकता होती है। उस दशामें जगत्‌का दूसरा कोई प्राणी उसकी प्रत्यक्ष सहायता नहीं कर सकता। वहाँ तो सर्वत्र फैला हुआ केवल भगवान्‌का वरद हस्त ही उसको सुरक्षित एवं संतुष्ट रख पाता है। जीवकी दृष्टि स्थूल एवं सीमित है। इसलिये वह मृत्युमें विश्वम्भरके भरण-पोषणकी क्रिया नहीं देख पाता। जिसकी आयु शेष नहीं है, उसकी मृत्यु होगी ही, चाहे उसमें निमित्त कुछ भी हो। भूखसे भी मनुष्य अथवा प्राणी मर सकता है।

उसकी मृत्युके लिये विश्वम्भरने यह निमित्त क्यों चुना, यह उस जीवके पूर्वकर्मोंको देखनेवाला ही बता सकता है। भगवान् ही उसके कर्म तथा आयुको देखते हैं, अतः वे ही उसके अनुरूप निमित्तका चुनाव कर सकते हैं। अधिक भोजन देकर भी किसीको मारा जा सकता है। अधिक भोजनसे मृत्यु होनेपर आप 'विश्वम्भर' में त्रुटि नहीं पाते; केवल भूखसे मरनेपर 'विश्वम्भर' नाम सार्थक नहीं होगा, ऐसी आपकी धारणा है। किंतु यह धारणा बुद्धिसंगत नहीं है। 'विश्वम्भर' का अर्थ है—विश्वका रक्षक और पोषक। वह किसी प्रकारकी भी अरक्षासे बचानेके लिये उत्तरदायी है। हम अपने बच्चेको सर्दी, गरमी और बरसातके अनुरूप कपड़े पहनाते और बदलते हैं। इसी प्रकार भगवान् भी आवश्यकता समझकर जीवका एक शरीरसे वियोग और दूसरेसे संयोग कराते रहते हैं। जबतक उसे उस शरीरमें रखना होता है, तबतक उसे भूख, अधिक भोजन, अस्त्र-शस्त्र, अग्नि, विष, जल आदि सभी मृत्युकारक भयोंसे बचाकर उसका भरण-पोषण करते हैं। जब शरीर नहीं रखना होता तब उसकी मृत्युका उचित कारण पैदा करके उसका अन्त कर देते हैं। भगवान्के द्वारा जन्म देना, जीवित रखना या मारना—ये सारी क्रियाएँ जीव-जगत्के सहज भरण-पोषण-कल्याणके लिये ही होती हैं—यह रहस्य भगवान्की दयासे तथा शास्त्र एवं महात्माओंके स्वाध्याय-सत्सङ्ग आदिसे समझमें आता है।

भगवन्नाम-जपसे महर्षि वाल्मीकिको भगवत्प्राप्ति हुई थी। अनेकानेक ऋषि-महर्षि इस नाम-जपके द्वारा भगवच्चरणारविन्द-मकरन्दका पान करनेमें समर्थ हुए हैं। शास्त्रोंका भी यही मत है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

(ना० पु० १।४१।११५)

'कलिजुग केवल नाम अधारा'—संत महात्माओंका भी ऐसा ही अनुभव है। यह ध्रुव सत्य है कि भगवन्नामके प्रभावसे प्रभुके दर्शन होते हैं और नामाश्रयी पुरुष समस्त पाप-तापोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। शेष भगवत्कृपा।

★

सृष्टि भगवान्‌का नाटक है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद। उत्तरमें निवेदन है कि हमारे प्रभु लीलामय हैं, सहज आनन्दस्वरूप हैं। तरह-तरहके खेल खेलना, परम प्रसन्न रहना और अपने लीला-परिकरोंको भी प्रसन्न रखना उनका स्वभाव है। भगवान्‌की अनेकों लीलाओंमेंसे उनकी बनायी हुई यह सृष्टि भी एक सुन्दर लीला है। उन्होंने अनेक प्रकारके सुन्दर दृश्य बनाये, जन्म-मृत्युके पर्दे भी लगाये। जीवनरूपी अनेक अभिनेता पैदा किये और इन सबको एक-एक वेष या रूप देकर यहाँ अपने-अपने जिम्मेका अभिनय करनेके लिये भेजा है। स्वयं पर्देकी ओटमें रहकर वे सृष्टि-चक्रका—विश्वरङ्गमञ्चका संचालन करते हैं। जो इस रहस्यको समझकर यहाँ अनासक्तभावसे खेल खेलते हैं, वे पुरस्कार पाते हैं। जो प्रभुकी वस्तुओंमें उन्हें अपनी मानकर आसक्ति बढ़ाते हैं, वे दुःख भोगते हैं। लीलाके सिवा सृष्टिका और कोई कारण नहीं जान पड़ता।

जो जीव यहाँ अभिनय करनेके लिये भेजे जाते हैं, वे यदि अपना अभिनय ठीक तौरसे पूरा करते हैं, तब तो वे प्रभुके कृपापात्र होते हैं; अन्यथा अपने अपराधोंके कारण दण्डित हो, दूसरे-दूसरे रूप या वेषमें बार-बार विश्वके रङ्गमञ्चपर खेलनेके लिये भेजे जाते हैं। यही उनका आवागमन है। जिन्होंने यह सारा खेल भगवान्‌का समझकर, उनकी आज्ञाका पालन करके, उन्हें ही प्रसन्न करनेके लिये इसमें अनासक्तभावसे भाग लिया है, वे फिर रङ्गमञ्चपर नहीं आते। यही उनकी 'मुक्ति' है। या वे कभी आते हैं तो भगवान्‌की इच्छासे उनकी

लोकलीलामें सहायक होकर लीलासे ही आते हैं। यही 'कारक पुरुषोंका अवतरण' कहलाता है।

इस प्रकार विचार करके, इस नाटकके प्रति ममत्व और आसक्तिका त्यागकर, उस सूत्रधारके कला-चातुर्यपर मुग्ध हो, उसीका स्मरण-चिन्तन करना तथा उसीकी प्रसन्नताके लिये उसके आज्ञानुसार जगत्में उसकी पूजारूपमें ही कर्म करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

★

भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य मथुरा और गोकुल दोनोंमें हुआ था

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने लिखा कि 'श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्धके पञ्चम अध्यायके प्रथम श्लोकमें आया है—**'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः।'** अर्थात् 'महामना श्रीनन्दजीके आत्मज (पुत्र) उत्पन्न होनेपर उनको परमानन्द हुआ।' तो क्या नन्दजीके यहाँ भी श्रीभगवान् पुत्ररूपमें प्रकट हुए थे? यदि नहीं, तो **'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने'** न कहकर श्रीमद्भागवतकारको यों कहना चाहिये था;**'नन्दस्तमात्मजं मत्वा'** (नन्दने वसुदेवनन्दनको आत्मज—अपना पुत्र मानकर)। परंतु श्रीशुकदेवजीने स्पष्ट **'आत्मज उत्पन्ने'** कहा है। इससे यही सिद्ध होता है कि नन्दबाबाके घर भी भगवान् प्रकट हुए थे। इस सम्बन्धमें आपका क्या विचार है ?'

इसके उत्तरमें निवेदन है कि यद्यपि श्रीमद्भागवतमें ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता कि भगवान् दोनों स्थलोंपर प्रकट हुए थे, तथापि भगवान्ने ऐसी लीला की हो तो भी क्या आश्चर्य है ? श्रीमद्भागवत (स्क० १० अ० ८६) में ही वर्णन आता है कि भगवान् मिथिलामें श्रुतदेव नामक ब्राह्मण तथा मिथिलानरेश बहुलाश्व—दोनों ही भक्तोंके यहाँ एक ही साथ अलग-अलग गये थे और उनकी मनःकामना पूर्ण की थी। श्रुतदेवने समझा कि भगवान् हमारे घर पधारे हैं और बहुलाश्वने जाना कि हमारे घर। रासमण्डलमें तो कोटि-कोटि गोपियोंमें भगवान् प्रत्येक दो गोपियोंके बीच एक-एक रूपसे प्रकट थे। प्रत्येक गोपी देखती थी कि भगवान् हमारे ही साथ हैं। ऐसे सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीवसुदेव-देवकीके यहाँ कंसके कारागारमें और नन्द-यशोदाके घर गोकुलमें पृथक्-पृथक् प्रकट हो जायँ, इसमें क्या बड़ी बात है ?

कुछ प्रेमी भक्तोंकी ऐसी मान्यता भी है कि श्रीवसुदेव-देवकीकी भक्ति ऐश्वर्यमिश्रित वात्सल्यमयी थी और श्रीनन्द-यशोदाकी ऐश्वर्य-गन्धशून्य विशुद्ध वात्सल्यमयी। इसीसे वसुदेव-देवकीके सामने भगवान् चतुर्भुज, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी बालकके रूपमें आविर्भूत हुए। भगवान्के इस ऐश्वर्यमय स्वरूपको देखकर उन्होंने समझा कि श्रीभगवान् हमारे पुत्ररूपमें प्रकट हुए हैं; अतएव उन्होंने हाथ जोड़कर उनकी स्तुति की और भगवान्ने भी उनके पूर्वजन्मोंकी याद दिलाकर उन्हें अपने भगवान् होनेका परिचय दिया। इसमें 'ऐश्वर्य' प्रत्यक्ष है। तदनन्तर वात्सल्यभावका उदय होनेपर कंसके भयसे उन्होंने भगवान्से बार-बार अपने चतुर्भुज रूपको छिपानेके लिये अनुरोध किया। इससे यह सिद्ध है कि श्रीवसुदेव-देवकीका वात्सल्यप्रेम ऐश्वर्यमिश्रित था और भगवान्का ऐश्वर्यमय चतुर्भुज रूप ही उनका आराध्य था तथा वे उसीको पुत्ररूपमें प्राप्त करना तथा देखना चाहते थे। परंतु श्रीनन्द-यशोदाका विशुद्ध वात्सल्यप्रेम था; उसमें ऐश्वर्य-ज्ञानका तनिक भी सम्बन्ध नहीं था; इससे उनके सामने भगवान् द्विभुज प्राकृत बालकके रूपमें ही आविर्भूत हुए और उन्होंने कोई स्तुति-प्रार्थना भी नहीं की। पुत्र समझकर गोदमें उठा लिया और नवजात बालकके कल्याणार्थ जातकर्मादि करवाये।

यह प्रसिद्ध ही है कि भगवान् उसी रूपमें भक्तके सामने प्रकट होते हैं, जो रूप भक्तके मनमें होता है। श्रीमद्भागवत (३।९।११) में श्रीब्रह्माजीने कहा है—

'यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत् तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥'

'भगवन्! आपके भक्त जिस स्वरूपकी निरन्तर भावना करते हैं,

आप उसी रूपमें प्रकट होकर भक्तोंकी मनःकामना पूर्ण करते हैं।'

श्रीमद्भागवतमें जो यह स्पष्ट वर्णन नहीं आया है, इसका कारण यह बताया जाता है कि श्रीशुकदेवजी भक्तराज परीक्षित्को कथा सुना रहे थे। परीक्षित्का सम्बन्ध वसुदेवजीसे था। अतः उन्हें विशेष आनन्द देनेके लिये शुकदेवजीने नन्दालयमें भी भगवान्के प्रकट होनेका वर्णन नहीं किया; परंतु उनका प्रेमपूर्ण हृदय माना नहीं और इस श्लोकमें उनके श्रीमुखसे '**नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने**' रूपमें रहस्य प्रकट हो ही गया। श्रीमद्भागवतमें एक संकेत और भी है—कंसने जब गोकुलसे लायी हुई यशोदाकी कन्याको देवकीकी कन्या समझकर उसे मारनेके लिये शिलापर पटकना चाहा, तब वह उसके हाथसे छूटकर आकाशमें चली गयी और देवीरूपसे प्रकट हुई। उस समय भागवतमें उसके लिये '**अदृश्यतानुजा विष्णोः**' अर्थात् कंसने भगवान्की अनुजा (छोटी बहिन) को देखा—यह लिखा है। पर यदि भगवान् श्रीकृष्ण केवल श्रीदेवकीके पुत्र होते तो यशोदाकी कन्याको भगवान्की 'अनुजा' कहना युक्तियुक्त तथा सत्य न होता। किंतु परमानन्दघनविग्रह भक्तवाञ्छाकल्पतरु श्रीभगवान् जिस समय कंस-कारागारमें वसुदेवात्मजके रूपमें प्रकट हुए थे, ठीक उसी समय गोकुलमें नन्दात्मजके रूपमें भी प्रकट हुए थे तथा उसीके थोड़ी देर बाद योगमाया कन्याके रूपमें प्रकट हुई थी। श्रीहरिवंशमें कहा गया है—

गर्भकाले त्वसम्पूर्णे अष्टमे मासि ते स्त्रियौ।
देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा॥

(विष्णुपर्व ४। ११)

अर्थात् देवकी और यशोदा दोनोंने गर्भकाल पूरा होनेके पहले ही आठवें महीनेमें एक ही साथ बालकको जन्म दिया था। इसपर यह

कहा जा सकता है कि 'जिस समय देवकीजीके भगवान् पुत्ररूपमें प्रकट हुए, उसी समय यशोदाजीके योगमाया प्रकट हुईं।' पर यह कथन बनता नहीं; क्योंकि श्रीमद्भागवत (१०।३।४) में यह स्पष्ट उल्लेख है कि 'श्रीभगवान्से प्रेरित वसुदेवजीने पुत्रको गोदमें लेकर कारागारसे बाहर निकलनेकी इच्छा की, उस समय 'योगमाया' प्रकट हुईं।' अतएव कारागारमें भगवान्का और गोकुलमें योगमायाका प्राकट्य आगे-पीछे हुआ, एक ही समय नहीं हुआ था। इसपर यह शङ्का की जा सकती है कि 'गोकुलमें भगवान् प्रकट हुए हों, इसमें स्पष्ट प्रमाण क्या है ?' तो इसके समाधानमें 'श्रीकृष्णयामल' का कहना है कि नन्दपत्नी यशोदाके यमज संतान हुई थी, पहले एक पुत्र हुआ, तदनन्तर एक कन्या हुई; पुत्र साक्षात् श्रीगोविन्द थे और कन्या थीं स्वयं अम्बिका (योगमाया)। यशोदाकी इस कन्याको ही वसुदेवजी मथुरा ले गये थे—

नन्दपत्न्यां यशोदायां मिथुनं समपद्यत।
गोविन्दाख्यः पुमान् कन्या साम्बिका मथुरां गता॥

इस स्पष्टोक्तिसे योगमायाको 'श्रीकृष्णकी अनुजा' कहा जाना भी सार्थक हो गया।

इसपर प्रश्न किया जा सकता है, 'फिर श्रीवसुदेवजी जब शिशु श्रीकृष्णको लेकर गोकुल गये, तब वहाँ उन्हें केवल शिशु बालिका ही क्यों दिखायी दी, बालक क्यों नहीं दिखायी दिया और बालक भी था तो फिर वह बालक कहाँ गया ? वहाँ दो बालक होने चाहिये।' इस शङ्काका समाधान यह है कि इनके वहाँ पहुँचते ही उसी क्षण इनका बालक उस बालकमें विलीन हो गया। इन्हें पता ही नहीं लगा कि वहाँ कोई बालक और भी था। वरं महानुभावोंने यहाँतक माना है कि जिस

समय कंसके कारागारमें देवकीने यह प्रबल इच्छा की कि श्रीभगवान्का चतुर्भुज रूप छिप जाय, उसी समय यशोदाहृदयस्थ भगवान्का द्विभुज बालकरूप उस चतुर्भुज रूपको छिपाकर देवकीके सामने आविर्भूत हो गया। (**यदा स्वाविर्भूतचतुर्भुजरूपाच्छादनाय श्रीदेवकीच्छा जायते, तदा यशोदाहृदयस्थद्विभुजरूपस्य तद्रूपाच्छादन-पूर्वकाविर्भावस्तत्रासीदिति गम्यते**—वैष्णवतोषिणी) यशोदाकी कोखसे प्रकट भगवान् वहाँसे तुरंत यहाँ आकर प्रकट हो गये और उनमें भगवान्का शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज रूप तुरंत वैसे ही विलीन हो गया, जैसे बादलमें बिजली विलीन हो जाती है—

वसुदेवसुतः श्रीमान् वासुदेवेऽखिलात्मनि।
लीनो नन्दसुते राजन् घने सौदामनी यथा॥

(श्रीकृष्णयामल)

इसके अतिरिक्त श्रीभागवतमें भी देवकी और यशोदा दोनोंके ही सामने भगवान्के प्रकट होनेका संकेत है—

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥

(१०।३।८)

यह 'देवकी' शब्द 'देहली-दीपक' न्यायसे श्रीदेवकीजी और श्रीयशोदाजी दोनोंका ही वाचक है; क्योंकि यशोदाजीका भी दूसरा नाम 'देवकी' था। श्रीहरिवंशपुराणमें आया है—

द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीति च।
अतः सख्यमभूत्तस्या देवक्या शौरिजायया॥

'नन्दभार्या यशोदाके यशोदा और देवकी—दो नाम थे, इसीलिये उनका नामसाम्यके कारण वसुदेव-पत्नी देवकीसे सख्यभाव था।'

इस वाक्यसे भी यह कहा जा सकता है कि सांकेतिक भाषामें श्रीशुकदेवजीने दोनों जगह भगवान्‌के प्राकट्यकी बात कह दी थी। महानुभावोंका कहना है कि भगवान्‌के दो रूप हैं—'ऐश्वर' और 'ब्राह्म'। 'ऐश्वर' मायाविशिष्ट है और 'ब्राह्म' स्वरूप मायातीत है। अचिन्त्यानन्त-अतुलनीय-कल्याण-गुणगणसम्पन्न स्वमायाविशिष्ट 'ऐश्वर' रूपके द्वारा इस विश्वब्रह्माण्डका सृजन-पालन आदि होता है। भगवान्‌का शुद्ध ब्राह्म-स्वरूप उत्पादन-पालनादि लीलाओंसे रहित केवल आनन्द-प्रेममय है। अतः वसुदेवजीके यहाँ भगवान्‌के जिस रूपका प्राकट्य हुआ था, वह उनका 'ऐश्वर' रूप था और 'नन्दात्मज' रूपसे ब्राह्म-स्वरूप् भगवान् अवतरित हुए थे। श्रीवसुदेवजीके यहाँ आविर्भूत 'ऐश्वर' रूप नन्दात्मज ब्राह्म-स्वरूपमें विलीन हो गया था। रास आदि मधुरतम लीलाओंमें 'ब्राह्म' स्वरूप प्रकट था और असुरादि-वध, अग्निपान आदि लीलाओंमें 'ऐश्वर्य' स्वरूप रहता था। जब भगवान्‌को श्रीअक्रूरजी मथुरा ले गये, तब 'ऐश्वर्य' स्वरूपसे भगवान् उनके साथ चले गये और भगवान्‌का विशुद्ध आनन्द-प्रेममय ब्राह्म-स्वरूप अप्रकटरूपसे गोपाङ्गनाओंके साथ व्रजमण्डलमें रह गया। यही **'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति'** का रहस्य है।

इस विवेचनके अनुसार श्रीभगवान् 'नन्दात्मज' रूपमें भी अवतीर्ण हुए हों तो कोई बड़ी बात नहीं है। भगवान्‌के लिये क्या असम्भव है। शेष भगवत्कृपा।

—★—

गोवधबंदीके लिये क्या करें ?

प्रिय महोदय ! सादर प्रणाम। गोवध-निषेधके सम्बन्धमें अपना विचार लिख रहा हूँ। मेरी समझसे गोवध बंद होनेके लिये निम्नलिखित बातें बहुत आवश्यक हैं—

१—सर्वथा गोवधबंदीका कानून बने। इसके बिना कसाईखानोंमें, कम-से-कम चमड़ेके निर्यातके लिये जवान और दूध देनेवाली गायोंका वध बंद नहीं हो सकता।

२—बूढ़ी, अपङ्ग गायोंके लिये स्थान-स्थानमें गो-सदनोंकी स्थापना होनी चाहिये।

३—गोचरभूमि प्रत्येक गाँवमें छूटनी चाहिये। रेलवे तथा कारखानोंके विस्तारसे गोचरभूमिका बड़ा अभाव हो गया है।

४—चमड़ेका, गोमांसका तथा गायके शरीरकी अन्यान्य चीजोंका निर्यात कानूनके द्वारा सर्वथा बंद होना चाहिये।

५—जिन पिंजरापोलोंमें या गोशालाओंमें बड़ी-बूढ़ी, बीमार गायोंकी रक्षाकी व्यवस्था है, उनको डेयरी-फार्म न करके उन्हें इसी पवित्र कार्यके लिये सुरक्षित रखना चाहिये और चेष्टापूर्वक सरकारी सहायता प्राप्त करके उन्हें उपयोगी गोसदनोंके रूपमें परिणत करना चाहिये।

६—बड़े-बड़े शहरोंमें गायें न रखकर शहरसे कुछ दूर खुली जगहोंमें, जहाँ जल और चारेकी सुविधा हो, आवश्यक मकान बनवाकर गायोंके रखनेकी व्यवस्था करनी चाहिये और शहरोंमें वहींसे दूध पहुँचाना चाहिये।

७—गायोंकी नस्लमें सुधार हो। अधिक-से-अधिक दूध देनेवाली अर्थकरी गायें न होंगी, बहुत पुष्ट बैल न होंगे और गायोंसे आर्थिक हानिका भय रहेगा, तबतक पूरी गोरक्षा सम्भव नहीं है।

८—जबतक सर्वथा गोवध बंद होनेका तथा चमड़े आदिका निर्यात बंद होनेका कानून न बने, तबतक शान्तिपूर्ण, किंतु प्रबल आन्दोलन करना चाहिये और सरकारको ऐसे कानून बनानेके लिये बाध्य कर देना चाहिये।

९—केवल सरकारके भरोसे न रहकर गोभक्त जनताको अपने कर्तव्यका पूरा पालन करना चाहिये और गोचरभूमि छोड़ने-छुड़वाने, गोसदन खोलने, शहरोंसे बाहर गायोंके रखनेकी व्यवस्था करने और नस्लसुधार तथा गायोंके सुखपूर्वक रखनेके लिये संबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये।

केवल सरकारपर दोषारोपण करनेसे सफलता नहीं होगी; सफलता होगी सब दिशाओंमें कार्य होनेसे। साथ ही गोमाताके पालन, संरक्षण और संवर्धनकी शक्ति प्राप्त हो—इसके लिये भगवान्से कातर प्रार्थना करनी चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

★

श्रीराधाकृष्णका स्वरूप

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद। उत्तरमें निवेदन है कि श्रीकृष्ण आदिपुरुष हैं, सनातन हैं और पुरुषोत्तम हैं। वे ही परात्पर परमात्मा हैं। श्रीराधा उनकी अभिन्न स्वरूपा-शक्ति हैं। श्रीराधाके साथ उनका नित्य संयोग है। वे दोनों नित्य एक हैं, व्रजमें भी श्रीकृष्ण अपने सम्पूर्ण रूप और ऐश्वर्यके साथ अवतीर्ण हुए थे। अतः उनकी वे ही स्वरूपभूता राधा, वही गोपियोंका समुदाय, वे ही ग्वालबाल, गौएँ आदि प्रकट हुई थीं। अतः उनके विवाहका उल्लेख न भी किया जाय तो कोई हानि नहीं है। जैसे गङ्गा समुद्रकी ओर ही प्रवाहित होती है, वैसे श्रीराधाका प्रेम केवल श्रीश्यामसुन्दरमें ही परिलक्षित होता है। प्रेमकी यह अनन्यता और विशुद्धता ही वास्तविक विवाह और सतीत्व है। अतः श्रीकृष्णके हृदयमन्दिरकी अधिदेवता तथा उनके प्रेम साम्राज्यकी सम्राज्ञी एकमात्र श्रीराधिका ही हैं। तथापि ब्रह्मवैवर्तपुराणमें यह स्पष्ट उल्लेख है कि स्वयं ब्रह्माजीने श्रीराधा और श्रीकृष्णका विवाह भी वृन्दावनके कुञ्जमें सम्पन्न करवाया था। लोकदृष्टिसे यह विवाह नहीं आया था; क्योंकि उस समय अवस्थाकी दृष्टिसे दोनों विवाहके योग्य नहीं थे, वरं श्रीकृष्णका तो अभी उपनयन भी नहीं हुआ था। अतः श्रीराधाको श्रीकृष्णकी रखनी या रखेली कहना अपनी अज्ञताका परिचय देना है। श्रीकृष्णकी अवस्था उस समय रखनी रखनेयोग्य नहीं थी। आप इन व्यर्थके भ्रममें न पड़कर भक्तिपूर्वक श्रीराधाकृष्णका चरण-चिन्तन करें। इसीसे कल्याण होगा। शेष भगवत्कृपा।

—★—

ईश्वरकी सत्यता

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद। आप लिखते हैं—ईश्वर है, यह सिद्ध कीजिये ?

उत्तरमें निवेदन है कि (१) ईश्वर नित्य स्वयंसिद्ध है; वह हमारे-आपके सिद्ध करनेसे सिद्ध होगा—ऐसी बात भी मनमें नहीं लानी चाहिये। आप हैं, मैं हूँ—क्या इस सत्य अनुभवको भी सिद्ध करनेकी आवश्यकता है ? यदि हम और आप सत्य हैं तो हमलोग जिसके अंश हैं, वह अंशी परमात्मा असत्य या असिद्ध कैसे हो सकता है। जबतक जलकी एक बूँद भी सामने है, तबतक जलनिधिको असत्य कैसे कहा जा सकता है। अंशविभाग असत्य हो तो हो; पर अंशी असत्य नहीं हो सकता। समुद्रके जलकी बूँद क्षणिक है, वह वायुके साथ उठकर फिर समुद्रमें ही एकीभूत होती है; इसी प्रकार अनेक जीवविभागोंकी सत्ता व्यावहारिक सत्य है। इस अनेकताका लय एक परमात्मसत्तामें ही होता है, अतः अंशी परमात्मा ही नित्य सत्य है। घट सत्य है तो घटनिर्माता कुम्भकार असत्य कैसे होगा। जगत् जब प्रत्यक्ष है, तब इसके स्रष्टाका अभाव कैसे सम्भव है। कार्य हो और कारण न हो, यह कदापि सम्भव नहीं।

(२) ईश्वर आनन्दमय हैं। वे लीला-रस-विस्तारके लिये ही सृष्टि-रचना करते हैं; इस सृष्टिसे उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है। अनादिकालसे विलग हुए जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही उनके द्वारा सृष्टिलीलाका सूत्रपात हुआ है।

(३) दुःख पूर्वकृत पापका फल है। भजनका फल तो सुख है,

प्रभुकी प्राप्ति है, वह आगे मिलेगा। एक आदमी किसीकी हत्या करके आया और रामनाम जपने लगा। एक मास बाद उसे फाँसीकी सजा हुई। यह सजा रामनामका फल नहीं, हत्याका दण्ड है। भजन और नाम-जपका परिणाम सदा मङ्गलमय है। शेष भगवत्कृपा।

——★——

मरणमें भी कल्याण

प्रिय पण्डितजी महाराज ! सादर प्रणाम। आपका दुःखभरा पत्र प्राप्त हुआ। छोटे भाईके रेलसे उतरते समय हाथ-पैर कट जाने और उसी चोटसे परलोकवास हो जानेकी दारुण घटना पढ़कर बड़ा खेद हुआ। उस तरुण सदाचारी एवं भगवद्भक्त बन्धुके साथ यह सहसा घटित वियोग आपको अत्यन्त शोक-संतप्त कर दे—यह स्वाभाविक ही है। मेरे हृदयमें आपके इस कष्टकी बातसे मार्मिक वेदना है; किंतु मनुष्यका वश ही क्या है। विधिका विधान अटल है। वह प्रभुकी इच्छाका ही प्रतीक है। प्रभु मङ्गलमय हैं। उनकी प्रत्येक इच्छा प्राणिमात्रके लिये मङ्गलमयी है। फिर आपके बन्धु तो भगवान्‌के भक्त थे। उनका एक लक्ष नाम-जपका नियम था, उनपर तो प्रभुकी अपार कृपा रही होगी ही।

प्रत्येक जीवको नियत समयतकके लिये शरीर मिलता है; यह प्रारब्धका फल अथवा प्रभुकी दी हुई धरोहर है। प्रारब्धके दिन पूरे होनेपर किसीका शरीर नहीं रह सकता। मालिक अपनी धरोहरको चाहे जब वापस ले सकता है; हमें कोई अधिकार नहीं कि उसे अधिक समय रखनेकी इच्छा करें। अभिमन्यु सोलह वर्षका तरुण था और उत्तरा भी तरुणी थी तथा बच्चा गर्भमें था। समस्त कुरुकुलका वह होनहार बालक भगवान्‌का भानजा था, फिर भी शरीरको आयुसे अधिक न रख सका। महाभारत-युद्धमें अनाथ-असहायकी भाँति वह मारा गया। क्या प्रभुने उसका अकल्याण किया; किसका किसमें भला है, इसे प्रभु जानते हैं और वे अपने ढंगसे सबका भला करते हैं। आपके भाईको प्रभुने अपनी सेवामें बुलाया। अन्यथा मरते समय प्रभुकी याद कैसे आती ? आशा है, आप धैर्य धारण करेंगे। शेष भगवत्कृपा।

★

भगवान्‌का मङ्गलमय विधान

प्रिय महोदय ! सादर हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद। आपके पुत्र और पुत्री दोनोंका आकस्मिक परलोकवास हो गया, यह पढ़कर खेद हुआ। आपलोग भगवान्‌के भक्त हैं। सदा उनकी पूजा करते रहे हैं। फिर भी बालकोंका आपके साथ असमयमें विछोह हो गया। भगवान्‌ने चेचकके द्वारा उन बालकोंको आपसे विलग कर दिया। इसके लिये आपको तथा आपकी धर्मपत्नीको शोक होना स्वाभाविक ही है।

परंतु ऐसी परिस्थितिमें अधीर नहीं होना चाहिये। आपने अथवा आपके बच्चोंने जो भगवान्‌का भजन अथवा भगवान्‌की सेवा-पूजामें सहयोग किया है, उसका फल तो आप सब लोगोंके लिये परम मङ्गलमय होगा ही। वर्तमान दुःख तो आपके पूर्वजन्मोंके किये हुए किसी कर्मका परिणाम है। मनुष्यको इस जन्ममें जो भी सुख-दुःख प्राप्त होते हैं, वे उसके पूर्वकृत कर्मोंके परिणाम हैं। उनका वर्तमान शुभाशुभ कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये। आपके दोनों बच्चे कोई पुण्यात्मा जीव थे, कर्मका भोग शेष रह जानेसे उन्हें थोड़े दिनोंके लिये इस संसारमें जन्म लेना पड़ा था। संसारमें आकर वे आप-जैसे पुण्यवानोंके घरमें उत्पन्न हुए, बचपनसे ही भगवान्‌की सेवामें योग देते रहे और अन्तमें तीर्थराजकी पावन त्रिवेणीमें स्नान करके घर लौटनेपर उन्होंने इस क्षणभङ्गुर शरीरका त्याग किया। अतः उनके लिये शोक नहीं करना चाहिये। वे उतनी ही आयु लेकर आये थे, अतः जल्दी चले गये। वे भगवान्‌के ही थे, भगवान्‌ने उन्हें अपने समीप बुला लिया।

आपके पास तो कुछ दिनोंतक धरोहरकी भाँति उन्हें भगवान्‌ने रख दिया था। आप उन्हें अपनी वस्तु मानकर ममताके अतिरेकसे दुःख उठा रहे हैं। आपको यह सोचकर संतोष करना चाहिये कि भगवान्‌ने अपनी वस्तु अपने पास मँगवा ली।

संसारका सम्बन्ध अनित्य है। यहाँकी प्रत्येक वस्तु क्षणभङ्गुर है। अपना यह शरीर भी सदा साथ नहीं देता। अतः यहाँकी सब वस्तुओंको अपना माननेसे दुःखके सिवा और कुछ नहीं मिल सकता। ममता ही सब दुःखोंका मूल है, इसे नष्ट कर देनेसे ही शान्ति मिलती है। भगवान्‌के भक्तको भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें अपना परम मङ्गल ही मानना और देखना चाहिये। हमारी दृष्टि सीमित है; अतः प्रभुके सौहार्दपूर्ण विधानका रहस्य हम समझ नहीं पाते। इसीलिये हम मनके प्रतिकूल कुछ भी होता देख घबरा उठते हैं। किंतु भगवान् सबके सखा हैं, सुहृद् हैं, प्रियतम हैं; वे सबका परम कल्याण ही करना चाहते हैं। मनुष्य अपने ऊपर जो पाप-पुण्यकी मैल चढ़ा लेता है, उसकी शुद्धिके लिये भगवान् जीवको दुःख-सुखके जलसे नहलाया करते हैं। वे जीवको शुद्ध करके माताकी भाँति छातीसे चिपका लेते हैं। जैसे, माँ अपने बालकके मलको धोकर उसे गोदमें ले लेती है, इसी प्रकार प्रभु भी किया करते हैं। माता जब नहलाती है तो बालक रोता है और माताके उस कार्यको निष्ठुरतापूर्ण बर्ताव मानता है। यही दशा संसारके हम सब जीवोंकी है। हम उस ममतामयी माँकी वत्सलताको नहीं देख पाते।

आप भगवान्‌की दयापर विश्वास करके निश्चिन्त हो जायँ। आप भगवान्‌के हैं, फिर चिन्ता किस बातकी। विश्वम्भर आपकी स्वयं सँभाल करेंगे। आप तो उन्हींकी प्रसन्नताके लिये स्वधर्मका पालन करते रहें। शेष भगवत्कृपा।

———★———

मैत्रीभावना कीजिये

प्रिय महोदय ! आपका पत्र मिला। आपने कई स्थान बदल लिये, अब आप अपने स्वर्गीय पिताजीके घरमें रहते हैं; पर जहाँ जाते हैं, वहीं आपके प्रति सबका दुर्भाव हो जाता है, सभी आपको तंग करते हैं और अकारण ही लोग शत्रु बन जाते हैं—यह अवश्य बड़े दुःखकी बात है। पर इसमें आपकी गरीबी कारण नहीं है। गरीब तो बहुत लोग हैं और वे सबके साथ रहते भी हैं; पर सब लोग उनके शत्रु नहीं बनते। आप ढूँढ़िये—कहीं आपसे ही तो कोई ऐसी भूल नहीं होती, जो कहीं भी आपको मित्र नहीं प्राप्त होने देती ? मेरी समझसे, ऐसी कोई बात अवश्य होनी चाहिये। आप मनमें ऐसे विचारोंको लाइये और उनका पोषण कीजिये कि 'आप जहाँ रहते हैं, वहाँ आपके बहुत-से मित्र हैं, हितैषी हैं, आपका हित चाहनेवाले हैं।' आपका ऐसा निश्चय होगा तो आपके व्यवहार-बर्तावमें कुछ ऐसी विलक्षण वस्तु आ जायगी, जो आपके शत्रुओं और विरोधियोंकी संख्या घटाकर उत्तरोत्तर मित्रों और हितैषियोंकी संख्या बढ़ा देगी और ऐसे लोगोंकी संख्या बढ़ती रहेगी। ज्यों-ज्यों मित्र अधिक दिखायी देंगे, त्यों-ही-त्यों आपकी मैत्रीभावनामें और भी दृढ़ता आयेगी और ज्यों ही आप अपनेको अधिकाधिक लोगोंका मित्र बना लेंगे, त्यों ही आपको भी सर्वत्र मित्र-ही-मित्र दिखायी देंगे और आपका चारों ओरसे हित होगा। आप ऐसी दृढ़ भावना करके देखिये।

बहुत बार हम-आप ही अपनी संदेहभरी वृत्तिसे सबको संदेहकी आँखोंसे देखकर उनके मनोंमें भी संदेहकी सृष्टि कर देते हैं और फलतः द्वेषका अङ्कुर उत्पन्न हो जाता है। यदि हम मैत्रीभावना करके अपने प्रति लोगोंका विश्वास उत्पन्न करा दें तो लोग भी हमारे लिये विश्वासपात्र और हमारे हितैषी बन जायँगे। शेष भगवत्कृपा।

══★══

स्वभाव-सुधार

प्रिय बहन ! सप्रेम हरिस्मरण। मनुष्यको जितना अपना स्वभाव सुधारनेकी चिन्ता होनी चाहिये और जितना वह अपना सुधार करनेमें स्वतन्त्र और समर्थ है, उतनी न तो दूसरेके स्वभावकी चिन्ता करनी चाहिये और न वह दूसरेके सुधारमें उतना स्वतन्त्र और समर्थ ही है। अपने पतिदेवके क्रोध तथा हठका नाश आप अपनी तपस्या और सेवासे ही कर सकती हैं।

हरितालिका तृतीयाका व्रत वे नहीं करने देते तो कोई हानि नहीं है। उनकी आज्ञाका महत्त्व व्रतसे कम नहीं है। इससे दुःखी न होइये।

मासिक धर्मकी स्थितिमें स्पर्श करना अवश्य सब प्रकारसे हानिकारक और आरोग्यका नाशक है। प्रार्थना, प्रेम तथा सेवासे समझाकर इस बातके लिये उनसे अनुमति प्राप्त करनी चाहिये कि उस समय चार दिन स्पर्श न किया जाय। शेष भगवत्कृपा।

★

चिन्ता छोड़कर भगवान्‌का चिन्तन करें

प्रिय बहन ! सस्नेह हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। बचपनमें—सर्वथा अज्ञानावस्थामें पड़ोसीकी पाप-भावनाका आप शिकार हो गयीं। इस बातका अब आपको अत्यन्त मानसिक संताप है, यह आपका अच्छापन है। यह संताप तो होना ही चाहिये; पर अब उस बातको लेकर पश्चात्ताप करनेसे कोई लाभ नहीं है और न उस बातको किसीके सामने प्रकट ही करना चाहिये। प्रकट करनेमें तो हानि-ही-हानि है। प्रकट करना चाहिये एकमात्र दयामय परमात्माके सामने, जो सबकी भूत-भविष्यकी सारी बातोंको जानता है और जो अपनी सहज दयासे सबको क्षमा करता है।

आपका शरीर स्वस्थ है, तब आप रोगका वहम क्यों करती हैं ? मनमें नीरोगताकी भावना दृढ़ कीजिये। आपको चार सालमें कोई संतान नहीं हुई है, इसमें निराशाकी कौन-सी बात है। आठ-दस वर्षोंके बाद संतान होती देखी जाती है। संतान न होनेसे घरवालोंका मन अवश्य खिन्न होता है पर इसमें आपका क्या दोष है। किसी-किसीके तो संतान जीवनभर नहीं होती। फिर आपकी तो अभी उम्र ही क्या है। आप घबराइये नहीं, भगवान्‌का चिन्तन कीजिये और अपने मनकी बात अपनी भाषामें प्रार्थनाके रूपमें दयामय भगवान्‌के सामने रखिये। आपका विश्वास दृढ़ होगा, श्रद्धा सच्ची होगी तो आपकी प्रार्थना भगवान् शीघ्र सफल न कर देंगे, यह कौन कह सकता है ?

चिन्ता छोड़कर भगवान्‌का चिन्तन कीजिये और अपने विनय, सद्व्यवहार, सेवा, तप, प्रसन्नता, हँसमुखपन तथा चरित्रकी परम पवित्रतासे पतिको तथा घरके लोगोंको प्रसन्न रखिये। शेष भगवत्कृपा।

★

भगवान्‌के साथ कोई भी सम्बन्ध मानिये

मान्या बहनजी ! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र प्राप्त हुआ। आप अपने पतिदेवको उनके गुरुके कथनानुसार शंकर मानती थीं और अपनेको पार्वती मानती थीं; अब पतिदेवके परलोकवासी हो जानेपर भी उसी प्रकार मानती हैं और भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा करती हैं तथा उनमें पिताका भाव रखती हैं—सो इसमें कोई दोष या हानिकी बात नहीं है। भगवान्‌से जो भी सम्बन्ध जोड़ा जाय वही उपयुक्त है। वे पिता, पुत्र, पति, भाई, गुरु—सब कुछ हैं। यह सम्बन्धयुक्त रागात्मिका भक्ति बहुत अच्छी मानी गयी है; पर होनी चाहिये वह सच्ची। मनका सच्चा भाव होगा तो भगवान् उसे अवश्य स्वीकार करेंगे। शेष भगवत्कृपा।

——★——

निष्काम और सकामका भेद

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। धन्यवाद। मैं सकाम अनुष्ठानोंका ज्ञाता नहीं हूँ। इसलिये इस विषयमें आपकी कोई सेवा कर सकूँ, ऐसी स्थितिमें नहीं हूँ। क्षमा कीजिये।

मेरी समझसे तो आप जिस दुःखसे छुटकारा पानेके लिये सकाम अनुष्ठान करना चाहते हैं, वह दुःख इससे मिटनेके बदले और भी बढ़ेगा। प्रथम तो सकाम अनुष्ठानमें विधि और श्रद्धाकी बड़ी आवश्यकता है; इनके बिना अनुष्ठान पूर्ण ही नहीं होता। आजके संयमहीन तथा अविश्वासी युगमें विधिका पालन और श्रद्धाका संरक्षण बहुत ही कठिन है। दूसरे, यदि अनुष्ठान कहीं पूर्ण हो भी जाय तो उससे किसीको अभीष्ट फल मिल ही जायगा—यह निश्चित नहीं है। आपके अभीष्ट फलमें बाधा देनेवाला प्रारब्ध कितना प्रबल है, यह कौन जानता है। कहते हैं कि विद्यारण्य स्वामीने गृहस्थ-जीवनमें तेईस गायत्री-पुरश्चरण धन-प्राप्तिके लिये किये; न उनकी श्रद्धा घटी और न धैर्य छूटा तथापि गायत्री देवीने उन्हें सफलता नहीं दी। तदनन्तर उन्हें वैराग्य हो गया और उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। सर्वत्यागपूर्वक संन्यासग्रहण भी एक महान् पुण्य है—अतः यह उनका चौबीसवाँ अनुष्ठान हो गया। तब गायत्री देवीने प्रकट होकर उनसे वर माँगनेको कहा और बताया कि 'तुम्हारे चौबीस महापातकोंका प्रतिबन्धक था। तेईस अनुष्ठानोंसे तेईस प्रतिबन्धक हटे। एक शेष था, वह संन्याससे दूर हुआ; तब मैं आयी।' विद्यारण्य स्वामीने कहा—'माता ! अब तो मुझे धनकी न आवश्यकता है न कामना। आप लौट जायँ।'

इस उदाहरणसे यह सिद्ध होता है कि अमुक अनुष्ठानसे अमुक कार्य सफल हो ही जायगा, यह नहीं कहा जा सकता। प्रतिबन्धकके अनुसार ही कार्य होता है। अतएव अनुष्ठान करनेपर यदि कार्य सफल नहीं हुआ तो अश्रद्धा होगी, समय तथा अर्थ नष्ट करनेका पश्चात्ताप होगा, देवताके प्रति अवज्ञा होगी और इस नये पापसे दुःखदायी संचित कर्म और भी बढ़ेगा।

फिर असली बात तो यह है कि यदि किसी साधनसे संसारकी कोई वस्तु मिल भी गयी तो उससे क्या लाभ होगा। ममता बढ़ानेवाली वस्तु जितनी बढ़ेगी, उतना ही दुःख और संताप तथा पापके साधन बढ़ेंगे। अन्तमें वह वस्तु तो छूट

ही जायगी। तो उसे छोड़कर पानेवाला पहले मर जायगा अथवा वह वस्तु ही पहले नष्ट हो जायगी। संसारके पदार्थोंमें सुख मानना, उन्हें प्राप्त करने और अपना बनाने (उनपर प्रभुत्व स्थापित करने) में सुखका अनुभव करना, उनको बचाने तथा बढ़ानेके उपायोंको सोचना और प्रयत्न करना—यह एक महान् मोह है, जिसके कारण मनुष्य मानव-जीवनके वास्तविक उद्देश्य भगवत्प्राप्तिको भूलकर प्रमादमें लगा रहता है और अपना अमूल्य जीवन व्यर्थ ही खो देता है।

मनुष्यका मनुष्यत्व तो एक ही बातमें है कि वह समस्त इहलौकिक और पारलौकिक मिथ्या भोग-सुखोंसे मुख मोड़कर अपने जीवनके प्रत्येक क्षणको बड़ी सावधानीके साथ श्रीभगवान्‌के स्मरण-चिन्तन, मनन और सेवनमें लगा दे। जगत्‌में प्रारब्धवश जो कुछ होना है, उसे निर्बाध होने दे। इसमें आत्माकी वास्तवमें कोई लाभ-हानि नहीं है। बल्कि दुःख भोगनेपर जो पूर्वजन्मके अशुभ कर्मका बन्धन कटता है, यह लाभ ही होता है। इसलिये मैं तो सलाह दूँगा कि आप सकाम भावनाका त्याग करके भगवान्‌के निष्काम भजनमें मन लगाइये। देवताओंकी उपासना करनेमें आपत्ति नहीं है; परंतु उनसे भी यही माँगिये कि वे कृपापूर्वक भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति होनेमें सहायक हों। अपितु समस्त अन्य शास्त्रीय कर्म करके भी सबका एक ही फल माँगिये—भगवच्चरणारविन्दमें अहैतुक प्रेम।

'सबु करि मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ।'

जब आपके मनमें कभी कुछ भी प्राप्त करनेकी चाह नहीं रहेगी और भगवान्‌के प्रति सहज प्रेम हो जायगा, तब श्रीभगवान् आपके मनको अपना निज घर मानकर उसमें सदाके लिये बस जायँगे—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

बस, इसीमें मानव-जीवनकी सफलता है। शेष भगवत्कृपा।

—★—

मनुष्य-जीवनका एकमात्र साध्य या लक्ष्य मोक्ष, भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेमकी प्राप्ति ही है, यह दृढ़ निश्चय करके प्रत्येक विचार तथा कार्य इसी लक्ष्यको ध्यानमें रखकर इसीकी सिद्धिके लिये करें।

किसीका भी बुरा न चाहे, बुरा होता देखकर प्रसन्न न हों।

किसीकी निन्दा-चुगली न करें। यथाशक्ति पर-चर्चा करें ही नहीं। किसीकी भी व्यर्थ आलोचना न करें। झूठ न बोलें।

किसी प्राणीकी हिंसा न करें। अपना काम अपने हाथसे करें।

भगवान्के नामका जप अधिक-से-अधिक करें। कम-से-कम २१,६०० नाप-जप जरूर कर लें।

कुछ-न-कुछ प्रतिदिन दान करें। दान सम्मानपूर्वक करें।

किसीकी जूठन कभी न खायें-पीयें। जूठा हाथ जरूर धो लें।

पति-पत्नी एक-दूसरेको पूरक तथा एक-दूसरेका अर्धाङ्ग समझें।

(**कल्याणकारी आचरण** नामक पुस्तकसे)

धर्महीन मनुष्यको शास्त्रकारोंने पशु बतलाया है। जो संसारके समस्त जीवोंके कल्याणका कारण हो, उसे ही धर्म समझना चाहिये। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं।

चोरी अनेक प्रकारसे होती है, किसीकी वस्तुको उठा लेना, वाणीसे छिपाना, बोलकर चोरी करवाना, मनसे परायी वस्तुको ताकना आदि सब चोरीके ही रूप हैं। समाजकी प्रगति चोरीकी ओर बड़े वेगसे बढ़ रही है।

(**मानव-धर्म** नामक पुस्तकसे)

साधनमें एक विघ्न है परदोष दर्शन। साधकको इस बातसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रखना चाहिये कि 'दूसरे क्या करते हैं।' साधकको अपनी साधनाके कार्यसे इतनी फुरसत ही नहीं मिलनी चाहिये जिससे वह दूसरेका एक दोष भी देख सके। जिन लोगोंमें दूसरोंके दोष देखनेकी आदत पड़ जाती है वे साधन पथपर स्थिर रहकर आगे नहीं बढ़ सकते। जब दोष दीखते ही नहीं तब उनकी आलोचना करनेकी तो कोई बात ही नहीं रह जाती। दोष अपने देखने चाहिये।

(**साधन-पथ** नामक पुस्तकसे)

अपने मनके विरुद्ध शब्द सुनते ही किसीकी नीयतपर सन्देह करना उचित नहीं।·····अगर आप दूसरेको चुपचाप बैठाकर अपनी बात सुनाना और समझाना पसंद करते हैं तो इसी तरह उसकी बात सुननेके लिये आपको भी तैयार रहना चाहिये।

(**आनन्दकी लहरें** नामक पुस्तकसे)

॥ श्रीहरिः ॥

परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार (भाईजी)-के अनमोल प्रकाशन

कोड	पुस्तक
820	भगवच्चर्चा (ग्रन्थाकार)
050	पदरत्नाकर
049	श्रीराधा-माधव-चिन्तन
058	अमृत-कण
332	ईश्वरकी सत्ता और महत्ता
333	सुख-शान्तिका मार्ग
343	मधुर
056	मानव-जीवनका लक्ष्य
331	सुखी बननेके उपाय
334	व्यवहार और परमार्थ
514	दुःखमें भगवत्कृपा
386	सत्संग-सुधा
342	संतवाणी—ढाई हजार अनमोल बोल
347	तुलसीदल
339	सत्संगके बिखरे मोती
349	भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू-संस्कृति
350	साधकोंका सहारा
351	भगवच्चर्चा
352	पूर्ण समर्पण
353	लोक-परलोक-सुधार
354	आनन्दका स्वरूप

कोड	पुस्तक
355	महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर
356	शान्ति कैसे मिले?
357	दुःख क्यों होते हैं ?
348	नैवेद्य
337	दाम्पत्य-जीवनका आदर्श
336	नारीशिक्षा
340	श्रीरामचिन्तन
338	श्रीभगवन्नाम-चिन्तन
345	भवरोगकी रामबाण दवा
346	सुखी बनो
341	प्रेमदर्शन
358	कल्याण-कुंज
359	भगवान्‌की पूजाके पुष्प
360	भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं
361	मानव-कल्याणके साधन
362	दिव्य सुखकी सरिता
363	सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ
364	परमार्थकी मन्दाकिनी
366	मानव-धर्म
526	महाभाव-कल्लोलिनी
367	दैनिक कल्याण-सूत्र
369	गोपीप्रेम

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
368	प्रार्थना—प्रार्थना-पीयूष	381	दीन-दु:खियोंके प्रति कर्तव्य
370	श्रीभगवन्नाम	379	गोवध भारतका कलंक एवं गायका माहात्म्य
373	कल्याणकारी आचरण	382	सिनेमा मनोरंजन या विनाशका साधन
374	साधन-पथ—सचित्र	344	उपनिषदोंके चौदह रत्न
375	वर्तमान शिक्षा	371	राधा-माधव-रससुधा-(षोडशगीत) सटीक
376	स्त्री-धर्म-प्रश्नोत्तरी	384	विवाहमें दहेज—
377	मनको वश करनेके कुछ उपाय	809	दिव्य संदेश..........
378	आनन्दकी लहरें		
380	ब्रह्मचर्य		

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित कुछ साधन-भजनकी पुस्तकें

052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद	1214	मानस-स्तुति-संग्रह
819	श्रीविष्णुसहस्त्रनाम—शांकरभाष्य	1344	सचित्र-आरती-संग्रह
207	रामस्तवराज—(सटीक)	1591	आरती-संग्रह—मोटा टाइप
211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्	208	सीतारामभजन
224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र	221	हरेरामभजन—दो माला (गुटका)
231	रामरक्षास्तोत्रम्	576	विनय-पत्रिकाके पैंतीस पद
1594	सहस्त्रनामस्तोत्रसंग्रह	225	गजेन्द्रमोक्ष
715	महामन्त्रराजस्तोत्रम्	1505	भीष्मस्तवराज
054	भजन-संग्रह	699	गंगालहरी
140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली	1094	हनुमानचालीसा—भावार्थसहित
142	चेतावनी-पद-संग्रह	228	शिवचालीसा
144	भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह	232	श्रीरामगीता
1355	सचित्र-स्तुति-संग्रह	851	दुर्गाचालीसा
		236	साधकदैनन्दिनी